

कुण्डलिनी योग : एक विश्लेषण

□ योगाचार्य स्वामी कृपालवानन्द

१. योग की परिभाषा और उसकी स्पष्टता

योग की परिभाषाएँ अगणित हैं। इनमें मुख्य तीन परिभाषाएँ अत्यन्त अर्थपूर्ण और प्रिय प्रतीत होती हैं। दो परिभाषाएँ हैं श्रीकृष्ण की—(१) “समता ही योग है।”^१ (२) “कर्मचरण में निपुणता का नाम योग है।”^२ तीसरी परिभाषा है महर्षि पतञ्जलि की—“चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है।”^३ श्रीकृष्ण की दो परिभाषाएँ इन्द्रिय-निग्रह की प्रबोधक हैं और महर्षि पतञ्जलि की परिभाषा मनोनिग्रह की प्रबोधक है। यदि इन तीन परिभाषाओं का समन्वय करके एक ही परिभाषा बनायी जाय तो इसमें इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह का समावेश हो जायेगा। योग-कुण्डल्युपनिषद् में कहा है—“चित्त की अस्थिरता के दो कारण हैं—पहला कारण है वासना और दूसरा है वायु। इनमें से यदि एक का विनाश होता है तो दूसरे का भी विनाश हो जाता है।”^४

वासनाएँ मन में होती हैं और वायु समस्त शरीर में।

श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में दो प्रकार की निष्ठाओं का निर्देश किया है—ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा।^५ ज्ञाननिष्ठा का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के साथ और कर्मनिष्ठा का सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों* के साथ है। इस प्रकार निष्ठाएँ दो ही हैं, अतएव योग भी दो प्रकार के ही हो सकते हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग। ज्ञानयोग में मन को माध्यम बनाना पड़ता है और कर्मयोग में प्राणवायु को।

“तो क्या भक्तियोग का अस्तित्व ही नहीं है ?”

भक्तियोग का अस्तित्व है। बिना प्रेम के ज्ञान एवं कर्म विफल ही रहते हैं। प्रेम तो योग की आत्मा ही है। वह ज्ञान एवं कर्म दोनों में अनुस्यूत है, इस कारण उसे पृथक नहीं दिखाया गया। ज्ञानमार्गी स्वामीभाव से उपासना करता है, अतः वह कर्म की अपेक्षा करता है और भक्त सेवकभाव से उपासना करता है, अतः वह कर्म की अपेक्षा रखता है। ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी साधक से भिन्न एक अन्य प्रकार का भी साधक होता है। वह विज्ञानप्रिय होता है। वह ईश्वर-निरीश्वर के सिद्धान्त को तटस्थता की दृष्टि से देखता हुआ कर्म करता है। उसे कर्मयोगी कहते हैं। सकाम कर्म की साधना करने वाला साधक भी कर्मयोगी कहलाता है।

भोगकर्म अयज्ञार्थकर्म है अतः वह बन्धन का और योगकर्म यज्ञार्थकर्म है, अतः मुक्ति का कारण है।^६

साधक ज्ञानमार्गी हो या कर्ममार्गी किन्तु उसके लिए कर्म अनिवार्य है। बिना कर्म किये कोई भी एक क्षण नहीं रह सकता।^७ ऐसी अवस्था में ज्ञानी बिना कर्म किये कैसे रह सकता है ? हाँ, ज्ञानी भी कर्म तो करता ही है किन्तु वह स्वयं को कर्ता नहीं मानता, क्योंकि प्रकृति ही कर्मों की जननी है।^८ उसी प्रकार भक्त भी कर्म तो करता ही है किन्तु वह स्वयं को कर्ता नहीं कारण मानता है, क्योंकि ईश्वर ही कर्मों को कराता है।^९

अकर्तृत्व ही अकर्म है, यज्ञार्थ कर्म है।

विचार सूक्ष्मकर्म है और आचार स्थूलकर्म। सूक्ष्मकर्म ही स्थूल का कारण होता है। विचार वासनाओं पर और वासनाएँ विषय-संसर्ग पर आधारित हैं, अतः वासनाओं का अभाव और वायु का स्थैर्य ही चित्त का अभाव है। इसलिए योगसाधक सर्वप्रथम प्राण को ही वश करे।^{१०}

२. योग का प्रयोजन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थ की सिद्धि योग का प्रयोजन है। साधकों में जो साधक

* वैदिक तथा अन्य दर्शनों में कर्मेन्द्रियाँ पृथक से मानी गयी हैं; जबकि जैनदर्शन के अनुसार कर्मेन्द्रियों का अन्तर्भाव स्वर्णेंद्रिय में ही हो जाता है।



सकाम होते हैं, वे अपने अपूर्णधर्म द्वारा काम और अर्थ की प्राप्ति करते हैं और जो साधक निष्काम होते हैं वे अपने पूर्णधर्म द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि सकाम साधक प्रेयपंथी यानी भोगपंथ का प्रवासी होता है और निष्काम साधक श्रेयपंथी यानी योगपंथ का प्रवासी होता है। इस प्रकार योग के दो अधिकारी हैं—संसारी एवं संन्यासी।

जब तक भोग का आकर्षण विनष्ट नहीं होता तब तक साधक श्रेयपंथ का प्रवासी नहीं बन सकता।

३. योग के प्रकार

मनुष्य को बन्धन और मुक्ति के दुःख-सुख की सामान्य अनुभूति तो निरन्तर ही होती रहती है। वह जाग्रतावस्था में विषयों के सम्पर्क में आता है, फलतः उसके मन में सुख-दुःख का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। सुषुप्तावस्था में विषयों का सम्पर्क नहीं रह पाता इससे उसको उसमें सुख-दुःख का अभाव प्रतीत होता है। यह तो उसके नित्य के अनुभव का वृत्तान्त है। इससे वह सरलतापूर्वक अनुमान कर सकता है कि मन की अन्तर्मुखता ही सुख, शान्ति और मुक्ति का अमोघ उपाय है।

चित्तवृत्ति का निरोध अर्थात् निर्बीज समाधि विश्व के समस्त योगों का अन्तिम परिणाम—पूर्णविराम है। जिस योग में इन्द्रियनिग्रह अथवा मनोनिग्रह नहीं है उसको योग कहना भ्रमणा ही है।

ईश्वर सनातन है, अतः उसकी प्राप्ति का योग भी सनातन है। सनातन यानी अविनाशी, अमर अथवा शाश्वत।

योग ही विश्वधर्म, ईशधर्म, मानवधर्म, सर्वधर्म, सत्यधर्म अथवा सनातनधर्म है।

योग के प्रकार नहीं हो सकते किन्तु मनुष्य में प्रकृतिभेद, साधनभेद, साधनाभेद इत्यादि असंख्य भेद होते हैं। इस प्रयोजन से योग में भी भेदों की भ्रान्ति होने लगती है।

प्रकृति त्रिगुणमयी होने से साधकों में कोई सात्त्विक, कोई सात्त्विक-राजसी, कोई राजसी-तामसी तो कोई तामसी होता है, फलतः तर्कप्रधान साधक ज्ञानयोग, भावप्रधान साधक भक्तियोग और कर्मप्रधान साधक कर्मयोग की साधना करता है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है—“मैंने श्रेय साधना के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग—इस प्रकार तीन उपायों का उपदेश किया है। इन उपायों के अतिरिक्त मेरी प्राप्ति का अन्य एक भी उपाय नहीं है।” योगवासिष्ठ में कहा गया है—“योगरूप पक्षी के ज्ञान और भक्तिरूप दो पंख हैं। उनके बिना वह व्योम विहार नहीं कर सकता है।” बिना ज्ञान के कर्म-भक्ति, बिना कर्म के ज्ञान-भक्ति और बिना भक्ति के ज्ञान-कर्म विफल ही होते हैं। ज्ञानी ज्ञान को ही प्रधानता प्रदान करता है और कर्म एवं भक्ति को गौण मानता है, योगी कर्म को प्रधानता प्रदान करता है और ज्ञान एवं भक्ति को गौण मानता है तथा भक्त भक्ति को ही प्रधानता प्रदान करता है और ज्ञान एवं कर्म को गौण मानता है। इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कह सकते हैं कि ज्ञानयोग में ज्ञान सेनापति और कर्म एवं भक्ति सैनिक, कर्मयोग में कर्म सेनापति और ज्ञान एवं भक्ति सैनिक तथा भक्तियोग में भक्ति सेनापति और ज्ञान एवं कर्म सैनिक हैं।

योग एक ही है, परन्तु उसके साधन असंख्य हैं। इस प्रयोजन के साधनों की दृष्टि के कारण एक ही योग के अगणित नाम संप्राप्त होते हैं।

ब्रह्मयोग, अक्षरब्रह्मयोग, शब्दयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, पूर्वयोग, अष्टांगयोग, अमनस्कयोग, असंप्रज्ञातयोग, निर्बीजयोग, निर्विकल्पयोग, अचेतनसमाधि, मनोनिग्रह इत्यादि नाम ज्ञानयोग के पर्याय हैं।

संन्यासयोग, वृद्धियोग, संप्रज्ञातयोग, सविकल्पयोग, हठयोग, हंसयोग, सिद्धयोग, क्रियायोग, तारकयोग, प्राणोपासना, सहजयोग, शक्तिपात, तन्त्रयोग, बिन्दुयोग, शिवयोग, शक्तियोग, कुण्डलिनीयोग, पाशुपतयोग, कर्मयोग, निष्कामकर्मयोग, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि नाम कर्मयोग के पर्याय हैं।

कर्मसमर्पण योग, चेतनसमाधि, महाभाव, भक्तियोग, प्रेमयोग, प्रपत्तियोग, शरणागतियोग, ईश्वरप्रणिधान, अनुग्रहयोग, मन्त्रयोग, नादयोग, मुरत-शब्द-योग, लययोग, जपयोग इत्यादि नाम भक्तियोग के पर्याय हैं।

इस प्रकार ‘योग’ शब्द में समस्त योगों का समावेश हो जाता है।

कर्मयोग प्रथम सोपान और ज्ञानयोग अन्तिम सोपान है। जब तक इन्द्रियनिग्रह नहीं हो पाता अर्थात् इन्द्रियाँ अन्तर्मुख नहीं होतीं, तब तक मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। यदि इन्द्रियनिग्रह किये बिना ही मनोनिग्रह का अभ्यास किया जाता है तो मन के विक्षेपों और ज्ञानेन्द्रियों के मलों का प्रतिकार करने में ही समय का अपव्यय होता रहता है।

साधना होती ही नहीं। अतएव साधक को सर्वप्रथम इन्द्रियनिग्रह करना चाहिए, तत्पश्चात् मनोनिग्रह। इन्द्रियनिग्रह को पूर्वयोग और मनोनिग्रह को उत्तरयोग कहते हैं। पूर्वोत्तर योगों को योग की ही दो अवस्थाएँ मानना चाहिए।

योगदर्शन सांख्यदर्शन का अनुसरण करता है, अतः वह ज्ञानशास्त्र है, ईश्वर का प्रतिपादन करता है, अतः वह भक्तिशास्त्र है, अष्टांग कर्मों का उपदेश करता है, अतः वह योगशास्त्र भी है।

वेदों में तीन काण्ड हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड। इनमें कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों में कर्मयोग की विस्तारपूर्वक समीक्षा की गयी है। कर्मयोग, क्रियायोग, सबीजयोग, संप्रज्ञातयोग, सविकल्पयोग अथवा चेतनसमाधि समानार्थक हैं। शाण्डिल्य, मण्डलब्राह्मण, वराह, जाबाल, ध्यानविन्दु, योग चूडामणि, योगशिखोपनिषद, श्वेताश्वतर, सौभाग्यलक्ष्मी, योगकुण्डली, इत्यादि अनेक उपनिषदों में कर्मयोग का उपदेश किया गया है। कर्मयोग के स्वतन्त्र शास्त्र भी हैं—योगियाज्ञवल्क्य, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, गोरक्षपद्धति, हठयोग प्रदीपिका, सिद्धसिद्धांतपद्धति, योगबीज, अमनस्कयोग इत्यादि।

ज्ञानकाण्ड के उपनिषदों में ज्ञानयोग की विस्तारपूर्वक चर्चा है। ज्ञानयोग, निर्बीजयोग, असंप्रज्ञातयोग, निर्विकल्पयोग अथवा अचेतनसमाधि समानार्थक हैं। ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छांदोग्य, श्वेताश्वतर इत्यादि अनेक उपनिषदों में ज्ञानयोग का उपदेश किया गया है। यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि कर्मयोग की सिद्धि के पश्चात् ही ज्ञानयोग की उपासना की जा सकती है।^{१२}

उपासनाकाण्ड के उपनिषदों में भक्तियोग की विस्तृत चर्चा की गई है। उपासना, सबीजयोग, सम्प्रज्ञातयोग, सविकल्पसमाधि, महाभाव इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। जिस प्रकार कर्मयोग में निष्कामकर्म है उसी प्रकार भक्तियोग में भी प्रभुप्रीत्यर्थकर्म—तदर्थकर्म है, अतः कर्मयोग के उपनिषद् भक्तियोग के ही उपनिषद् हैं। भक्तियोग यानी सेश्वरसांख्य—ईश्वरवाद। 'योगदर्शन' सेश्वरसांख्य का समर्थन करता है; अतः वह सेश्वरसांख्य शास्त्र है। अठारह पुराण उसके अनुगामी हैं। उनमें भी तीनों काण्डों की विचारणा की गयी है।

योगशास्त्रों में कहीं-कहीं त्रिविध योग का निर्देश किया है—(१) आणवयोग, (२) शाक्तयोग, और (३) शांभवयोग। इनमें से आणवयोग में अष्टांगयोग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहारादि होते हैं। उसका प्रधान उद्देश्य इन्द्रियनिग्रह ही होता है, इसलिए इसमें इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि का अवलम्बन लिया जाता है। कुण्डलिनी शक्ति जागने के पश्चात् वही आणवयोग शाक्तयोग का स्वरूप धारण कर लेता है और आगे चलकर शाक्तयोग भी शांभवयोग का स्वरूप धारण कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि योग एक है किन्तु उसकी अवस्थाएँ तीन हैं।

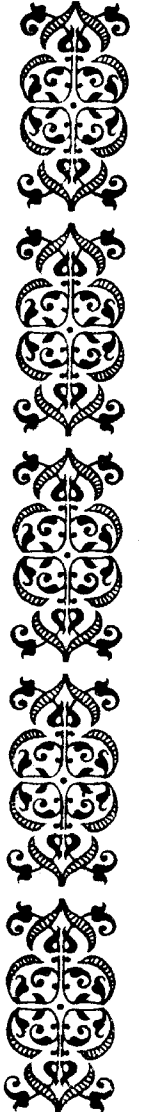
४. समस्त योगों का आधार कुण्डलिनी

जो साधक प्रेयार्थी नहीं है परन्तु श्रेयार्थी है उसको श्रेय की सिद्धि के लिए कुण्डलिनी को जगाना पड़ेगा। कुण्डलिनी को जगाये बिना इष्टसिद्धि असम्भव है, क्योंकि समस्त योगों का आधार कुण्डलिनी है।^{१३} वही योग का प्रवेशद्वार है, उसके बिना समस्त उपाय निरर्थक हैं।

ज्ञान, भक्ति एवं योग के विविध साधनों के अनुष्ठानों का शुभफल एक ही है, कुण्डलिनी की जागृति।

मोक्ष के बन्द द्वारों के मध्य में एक विलक्षण ताला है। वह बिना कुञ्जी के नहीं खुलता। उसकी कुञ्जी भी सबके लिए सुलभ नहीं है। उस कुञ्जी का नाम है कुण्डलिनी।^{१४} मनुष्य के शरीर में कन्द के ऊर्ध्वभाग में यह सर्पाकार कुण्डलिनी सुषुम्ना के मार्ग को रोककर कुण्डली लगाकर सोई हुई है। इस कारण उस मार्ग पर कोई यात्रा नहीं कर सकता। संसारी साधक उसका आश्रय लेकर भोग भोगते हैं, परिणामतः वे बन्धन से बँधते हैं और संन्यासी साधक उसका आश्रय लेकर योग-साधना करते हैं, परिणामतः वे मुक्ति प्राप्त करते हैं।^{१५} अधोगामी शुक्र रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु और अज्ञान का कारण है और ऊर्ध्वगामी शुक्र आरोग्य, युवावस्था, अमरता और ज्ञान का कारण है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने काम को ज्ञानी का शत्रु कहकर अर्जुन को ऊर्ध्वरेता बनने का आदेश दिया है।^{१६}

कुण्डलिनी को जगाने का साहस कोई बिरला योगी ही कर सकता है। सामान्य साधकों से यह कार्य नहीं हो पाता। उनके लिए यह कार्य अशक्य ही है। सिद्धियों के उपासक तो कुण्डलिनी को दूर से ही वन्दन करके वापस लौट जाते हैं। हम कुण्डलिनी को जानते हैं—ऐसा प्रलाप करने वाले साधक सहस्रों की संख्या में हैं, परन्तु उनमें से एक भी साधक कुण्डलिनी को यथार्थ रूप में नहीं पहचानता। जो कुण्डलिनी को जानता है, वह योग को जानता है, यह शास्त्र-वचन मिथ्या नहीं है।^{१७} प्राणोत्थान भिन्न है और कुण्डलिनी की जागृति भिन्न है। हाँ, यह सत्य है कि प्राणोत्थान द्वारा आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, इत्यादि अपने आप होते हैं, तथापि उनके द्वारा चक्रों और ग्रन्थियों का भेदन नहीं होता



तथा तन-मन की विशुद्धि भी नहीं होती। यह कार्य तो प्राणोत्थान द्वारा जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तभी होता है। प्राणोत्थान निर्दोष और प्रशंसनीय ही है, क्योंकि इसके बिना कुण्डलिनी को जाग्रत करने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

जन्मान्ध को रंग-परिचय देने का और पूर्ण बधिर को स्वर-परिचय देने का कार्य जितना कठिन है उसकी अपेक्षा अनेकगुना कठिन कार्य अयोगी को कुण्डलिनी का परिचय देने का है। कुण्डलिनी के अनेक स्वरूप हैं, तथापि इन समस्त स्वरूपों का समावेश उसके स्थूल एवं सूक्ष्म—इन दो स्वरूपों में किया जा सकता है। स्थूलकुण्डलिनी का स्थान शरीर में मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र की सीमा में—आधुनिक शरीरविज्ञान के अनुसार विसर्जनतन्त्र और प्रजननतन्त्र की सीमा में—आया हुआ है। उसके द्वारा सबीज समाधि सिद्ध होती है। सूक्ष्मकुण्डलिनी शक्ति अथवा प्राणरूप है। उसके द्वारा निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। योगज्ञ स्थूलकुण्डलिनी के रूप में शिव की और सूक्ष्मकुण्डलिनी के रूप में शक्ति की भावना करते हैं, इस प्रयोजन से उनके संयुक्त स्वरूप को अर्धनारीश्वर भी कहा जाता है। शिव के आभ्यन्तर शक्ति और शक्ति के आभ्यन्तर शिव हैं। दोनों में चन्द्र-चन्द्रिका सम्बन्ध है। प्रसार में शक्ति और संकोच में शिव दिखायी देते हैं।¹⁴

जब गुरुकृपा द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होती है तब शरीरस्थ चक्रों एवं ग्रन्थियों का भेदन होता है।¹⁵

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि इन्द्रियनिग्रह में होने वाली स्वाभाविक शारीरिक क्रियाएँ कर्मयोग की परिभाषा में 'क्रियायोग' कहलाती हैं। इसमें कर्मदृष्टि की प्रधानता होने से कुण्डलिनी का स्वरूप कर्मदृष्टि से अभिव्यक्त किया जाता है। वही क्रियायोग भक्तियोग की परिभाषा में 'भगवान की लीला' कहलाता है। इसमें भावदृष्टि की प्रधानता होने से कुण्डलिनी को आराध्य देव अथवा देवी के स्वरूप में स्वीकृत किया जाता है। भाव द्वारा सब कुछ प्राप्त होता है, भाव द्वारा देवदर्शन होता है और भाव द्वारा ही सर्वोत्तम ज्ञान की उपलब्धि होती है।¹⁶ "अगणित जप से, होम से और काया को अत्यन्त कष्ट देने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि बिना भाव के देव, यन्त्र और मन्त्र फल प्रदान नहीं करते हैं।"¹⁷ वही क्रियायोग अथवा भगवान की लीला ज्ञानयोग की परिभाषा में "प्रकृति की लीला" है। इसमें तत्त्वदृष्टि की प्रधानता होने से कुण्डलिनी को तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया जाता है।

५. अधोमुखी एवं ऊर्ध्वमुखी कुण्डलिनी

कुण्डलिनी के दो भेद हैं—सुप्त एवं जाग्रत। जब तक मनुष्य-शरीर में कुण्डलिनी सुप्त रहती है तब तक अज्ञान का घोर अन्धकार विनष्ट नहीं होता, सत्य का साक्षात्कार नहीं होता और जन्म-मृत्यु का बन्धन कटकर अमरत्व की उपलब्धि भी नहीं होती।

मूलाधारस्थ अधोमुखी कुण्डलिनी को 'अधःशक्ति' भी कहते हैं। असंख्य साधक विविध योगों के विविध अनुष्ठान द्वारा इस "कामपीठ" भूमिका में प्रविष्ट तो हो जाते हैं किन्तु उनको उसके यथार्थ स्वरूप का बोध न होने से वह उनके पतन का कारण बन जाती है। यह भूमिका वाममार्ग का उद्गम स्थान है।

अधोमुखी कुण्डलिनी को जगाना साधारण कार्य है, किन्तु उसको ऊर्ध्वमुखी बनाना असाधारण कार्य है। इसमें सतत साधना की आवश्यकता रहती है। कुण्डलिनी को उत्तेजित करने के बाद निर्बल साधक भयभीत हो जाता है, क्योंकि उसके योगमार्ग में विषयवासना का महासागर उमड़ आता है। उसको पार करना यानी वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर ऊर्ध्वरेता बनना, यह महाभारत युद्ध से भी अधिक कठिन है।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र को भेदने पर ही योग में प्रवेश होता है। ये दोनों चक्र भोग-केन्द्र भी हैं और योग-केन्द्र भी। जैसे सीढ़ी पतन-उत्थान का कारण है वैसे ये दोनों चक्र भी पतन-उत्थान के कारण हैं। जब तक पूर्व-योग, तारकयोग, सम्प्रज्ञातयोग, सबीजयोग, सविकल्पयोग अथवा इन्द्रियनिग्रह सिद्ध नहीं होता, तब तक भोग-केन्द्र में ही निरन्तर क्रिया चलती रहती है, फलतः वही ध्यान का मध्यबिन्दु बना रहता है। जब प्राण अपान पर विजय पा लेता है और आज्ञाचक्र ध्यान का बिन्दु बन जाता है तब उस ऊर्ध्वरेता योगी को योगाग्निमय देह, ऋतंभरा प्रज्ञा और उत्तर योग, अमनस्कयोग, राजयोग, असंप्रज्ञातयोग, निर्बीजयोग, निविकल्पयोग, अथवा मनोनिग्रह की उपलब्धि होती है। तन्त्र में कहा है—योगी मनुष्य नहीं, ईश्वर ही है।¹⁸

शिवजी ऊर्ध्वरेता हैं, अतः उनका प्रतीक ऊर्ध्वलिंग है। लिंग के पूर्व में शक्ति होती है और उत्तर में कूर्म। शक्ति लक्ष्य का और कूर्म संयम का प्रतीक है। श्री कृष्ण भी ऊर्ध्वरेता हैं, वे कालियनाग के फन पर जिस मुद्रा में खड़े हैं उसको आकर्षणीमुद्रा, मोहनमुद्रा, वैष्णवीमुद्रा, योनिमुद्रा अथवा लोपामुद्रा कहते हैं। श्रीकृष्ण के करकमलों में वंशी है, वह अनाहतनाद की द्योतक है।

नाभिस्थ मध्यमा कुण्डलिनी बोधरूप होती है। उस भूमिका में साधक के वैराग्य की वृद्धि होती है और

सत्त्वगुण समृद्ध होने से उसके अन्तःकरण में ज्ञान के निर्झर झरने लगते हैं। अन्त में वह शक्ति ऊर्ध्वगामिनी बनकर सहस्रार में पहुँच जाती है और योगी संसार-बन्धन से विमुक्त हो जाता है।

अधःशक्ति में अधःशक्तिपात और ऊर्ध्वगामिनी शक्ति में ऊर्ध्वशक्तिपात होता है।

६. कुण्डलिनी की जागरणविधि

भारत में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के सामान्य साधन तो सहस्रों वर्ष से लोकसमाज में प्रचलित हैं। उनमें से किसी एक साधन का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है। यह भारतीय धर्मों की अद्वितीय विशिष्टता है।

भोगेच्छुक संसारी की सकाम-साधना का मार्ग भिन्न है और योगेच्छुक संन्यासी की निष्काम-साधना का मार्ग भिन्न है। सकाम साधक में सिद्धियों की कामना होती है, अतः उसके अन्तःकरण में विकल्प का कारण सुरक्षित रहने से चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध नहीं हो पाता और निष्काम साधक में केवल शरणागति अथवा मोक्ष की भावना होती है, अतः उसके अन्तःकरण में विकल्प का कारण न रहने से चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध हो सकता है।

सकाम साधना में संसारी साधक को यथाशक्ति संयम-ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है और निष्काम साधना में संन्यासी साधक को ऊर्ध्वरेता बनने के लिए आत्मसमर्पण करना पड़ता है अर्थात् आत्मा से विषय-विकारों को पूर्ण रूप से निकालना पड़ता है।

इन ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के प्रचलित साधनों की दूसरी विशेषता यह है कि उनके अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत तो हो ही जाती है किन्तु उसका वेग सह्य होता है, फलतः जैसा अनुष्ठित साधन, जैसा अधिकारी और जैसी परिस्थिति वैसा प्रयत्न करने में सुविधा होती है।

मोक्षप्राप्ति की इच्छा न हो और पात्रता भी न हो तथापि शक्तिपात की दीक्षा लेकर जो साधक भौतिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधना करता है वह बहुत बड़े भ्रम में पड़ा हुआ है। उसको यह ज्ञात नहीं है कि शक्तिपात की दीक्षा संन्यस्त दीक्षा ही है, मोक्षयात्रा है। इसमें तो संप्राप्त सिद्धियों को भी श्रीहरि अथवा श्री गुरुचरणों में समर्पित करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वह इन सिद्धियों को अपने स्वार्थ के लिए उपयोग नहीं करता। सकाम साधना के अनुष्ठान से साधक को आरम्भ में भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इससे उसके अन्तःकरण में श्रद्धा-भक्ति का अभ्युदय होता है और धर्मभावना सुस्थिर होती है, परिणामतः उसको सकाम कर्मों की तुच्छता और निष्काम कर्मों की महत्ता अवगत होती है। निष्काम मार्ग के साधक को आरम्भ और मध्य में आध्यात्मिक सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, इससे वह वैराग्यसम्पन्न होता जाता है और उसको धीरे-धीरे विश्व की विस्मृति होती जाती है।

ज्ञानमार्गी संन्यासी साधक अरण्य में रहकर शास्त्राध्ययन और निरन्तर शास्त्रचिन्तन करता रहता है। इतना ही नहीं, ज्ञानप्राप्ति के लिए विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षुता के प्रति भी निरन्तर अभिमुख रहता है जिससे उसका उत्तरपथ निर्विघ्न होता जाता है और अन्त में वह उसका अधिकारी बन जाता है।

ज्ञानमार्गी संसारी साधक भी नगर में रहकर यथासम्भव शास्त्राध्ययन एवं यथासम्भव शास्त्रचिन्तन करता रहता है। इतना ही नहीं, ज्ञानप्राप्ति के लिए यथासम्भव विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षुता के प्रति अभिमुख रहने का आयास भी करता रहता है, जिससे वह संन्यास अथवा प्रव्रज्या का अधिकारी बन जाता है।

योगमार्गी संन्यासी साधक तपोवन में रहकर योगोपासना, शास्त्राध्ययन, शास्त्रचिन्तन और यम-नियम का परिपालन करता रहता है। फलतः उसके अन्तःकरण में ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि होती है और उसको आध्यात्मिक सिद्धियों की संप्राप्ति भी होती है। इस प्रकार वह अपने उत्तरपथ को प्रशस्त बनाता रहता है।

ज्ञान, भक्ति अथवा कर्मयोग हो अथवा उनके अन्तर्गत आने वाला कोई भी योग हो, उसकी सिद्धि के लिए साधक को कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत करनी ही पड़ती है। योगमार्गी एवं भक्तिमार्गी साधक निम्नोक्त साधनों के अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी को जगा सकते हैं।

१. केवल सिद्धासन का नियमित अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

योगी लोग शरीरस्थ चक्रों को शक्तिकेन्द्र या नाड़ीकेन्द्र कहते हैं। उनमें प्रधान सात चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार और गौण दो चक्र—सोमचक्र तथा मनश्चक्र—अथवा इनसे भी अधिक गौण चक्र—व्योम चक्र, ललनाचक्रादि—मानते हैं। यद्यपि उनके स्थान शरीर के पृष्ठवंश में हैं तथापि उन



सबका विस्तार अपने-अपने पूर्वभागों में भी है। सिद्धासन के अभ्यास द्वारा मूलाधार चक्र का भेदन होने लगता है। तत्पश्चात् क्रमशः शेष चक्रों का भी भेदन होता है। अभ्यास द्वारा मूलाधार चक्र में योगाग्नि प्रज्वलित होने से कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है।

विविध आसनों के नियमित अभ्यास द्वारा भी यही परिणाम आता है।

प्रत्येक आसन का सम्बन्ध किसी न किसी चक्र के साथ होता ही है। उदाहरणार्थ, जिनमें पाष्णि द्वारा गुदा का मध्यभाग पीड़ित किया जाता है ऐसे मूलबन्धासन, वीरासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, वृषासन, पार्श्वसनादि—आसनों का सम्बन्ध मूलाधारचक्र के साथ होता है। जिनमें पाष्णियों द्वारा गुदा और उपस्थ का मध्यवर्ती भाग दबाया जाता है ऐसे—सिद्धासन, सिंहासन, मुक्तासन, धीरासन, खंजनासन, कूर्मासन, गोमुखासनादि—आसनों का सम्बन्ध स्वाधिष्ठान चक्र के साथ होता है। जिनमें उदर को सिकोड़ा जाता है अथवा फुलाया जाता है ऐसे—पश्चिमोत्तानासन, भूनमनपद्मासन, पवनमुक्तासन, पृष्ठासन, उत्तानपादासन, कर्णपीडनासन, सुप्तद्विपादशिरासन, हलासनादि—आसनों का सम्बन्ध मणिपूर-चक्र के साथ होता है। जिनमें वक्ष को दबाया जाता है अथवा कुंभक करके उसको फुलाया जाता है ऐसे—सर्वांगासन, हलासन, कर्णपीडनासन, सुप्तद्विपादशिरासन, सुप्तएकपादशिरासनादि—आसनों का सम्बन्ध विशुद्ध चक्र के साथ होता है। जिनमें दृष्टि को अपने आप स्थिर किया जाता है ऐसे—मूलबन्धासन, वज्रासनादि आसनों का सम्बन्ध आज्ञाचक्र के साथ होता है।

२. योगोक्त दस मुद्राओं में से किसी एक मुद्रा का या इससे अधिक मुद्राओं का नियमित अभ्यास करने से भी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, जालंधरबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्धमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, वज्रोलीमुद्रा और खेचरीमुद्रा—ये दस मुद्राएँ योग की अमर अनुभूतियाँ हैं। उच्च कक्षा के सबीज योगसाधक को योग की सम्यक् साधना द्वारा उन मुद्राओं का साक्षात्कार होता है। मुद्रा आसन का विकसित स्वरूप है। आसनों में इन्द्रियों की प्रधानता और प्राण की गौणता होती है; इससे विपरीत, मुद्राओं में इन्द्रियों की गौणता और प्राण की प्रधानता होती है। एक ही मुद्रा विविध आसनों में की जा सकती है, अतः सिद्ध होता है कि आसन गौण और प्राणप्रक्रिया प्रधान है, इतना ही नहीं, एक ही आसन में एक साथ एकाधिक मुद्राएँ भी की जा सकती हैं।

सामान्य मुद्राएँ असंख्य हैं। इनमें उपर्युक्त दस मुद्राएँ प्रधान हैं। इनका सम्बन्ध भी चक्रों के साथ जुड़ा हुआ है।

(१) महामुद्रा—भूमि पर बैठकर दक्षिणपाद को लम्बा करना तदनन्तर वामपाद को मोड़कर उसकी पाष्णि द्वारा सीवनी को दृढ़तापूर्वक दबाना। पश्चात् दोनों हाथों द्वारा पाद के पंजों को पकड़ना और नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा आभ्यन्तर कुंभक करना। अन्त में जालंधरबन्ध बाँधकर और शरीर को नीचे की ओर झुकाकर मस्तक को घुटने पर रखना, इसको 'महामुद्रा' कहते हैं। वामपाद के स्थान पर दक्षिणपाद का उपयोग करके उसका दूसरा प्रकार भी बनाना। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार चक्र के साथ है। जब यह सिद्ध हो जाती है तब इसका सम्बन्ध सहस्रार के साथ हो जाता है।

(२) मूलबन्धमुद्रा—भूमि पर बैठकर दक्षिणपाद की पाष्णि द्वारा सीवनी को दबाकर वामपाद की पाष्णि को लिंग के मूल पर स्थापित करना, तदनन्तर गुदा को संकोचकर तथा नाभि को मेरुदण्ड की ओर बलपूर्वक आकृष्ट करके अपानवायु को ऊपर चढ़ाना, इसको 'मूलबन्धमुद्रा' कहते हैं। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार चक्र के साथ है।

(३) शक्तिचालनमुद्रा—शक्तिचालनमुद्रा समस्त मुद्राओं की जननी है और योग का परम रहस्य है, फलतः उसको गुप्त ही रखा जाता है। गुरु स्वयं उसकी शिक्षा केवल वैराग्यसम्पन्न श्रेष्ठ शिष्य को ही देता है, और किसी को नहीं। इसका सामान्य संकेत इस प्रकार है—

सिद्धासन पर आरूढ़ होकर दक्षिण हाथ की मुट्ठी द्वारा नाभि के निम्न भाग में आयी हुई कुण्डलिनी को दबाना। पश्चात् प्राण द्वारा अपान को क्रमशः मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार इत्यादि ऊर्ध्व चक्रों में चढ़ाना। यहाँ यह स्मरणीय है कि जब तक अपान निर्बल नहीं हो पाता तब तक प्राण उसको ऊपर के चक्रों में नहीं ले जा सकता, अतः प्राण-अपान का संघर्ष काफी समय तक चलता है। अन्त में जब प्राण प्रबल बनता है तब पराजित अपान ऊपर के चक्रों में चढ़ने लगता है।

उपर्युक्त भूमिका में प्राण सुप्त कुण्डलिनी को बार-बार जगाता है, किन्तु वह प्राण को बार-बार पराजित करके पुनः सो जाती है। जब प्राण विजय प्राप्त करता है, तब कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर साधक को सबीजसमाधि प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है और सुषुम्ना के मुख पर से खिसक जाती है। तदनन्तर योनिमुद्रा की बारी आती है।

बिना शक्तिचालनमुद्रा के खेचरीमुद्रा और योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती। इस मुद्रा का सम्बन्ध स्वाधिष्ठान चक्र के साथ है। अन्त में जब वह सिद्ध हो जाती है तब उसका सम्बन्ध सहस्रार के साथ हो जाता है।

(४) महाबन्धमुद्रा—सिद्धासन अथवा मुक्तासन बाँधना अर्थात् दक्षिणपाद को मोड़कर उसकी पाणि द्वारा सीवनी को दबाना, और वामपाद को मोड़कर उसकी पाणि द्वारा लिंगमूल को दबाना, तदनन्तर त्रिबन्धसहित प्राणायाम का अभ्यास करना इसको 'महाबन्धमुद्रा' कहते हैं।

इस महाबन्धमुद्रा में जो प्राणायाम किया जाता है उसकी संज्ञा सगर्भ अथवा सबीज प्राणायाम है। इस भूमिका में साधक प्राणायामसहित शक्तिचालनमुद्रा, खेचरीमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा और जालंधरमुद्रा का स्वाभाविक अभ्यास करता है, फलतः वह बिन्दु को कुछ अंशों में जीत सकता है। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार एवं सहस्रारचक्र के साथ है।

यह महाबन्धमुद्रा सबीज समाधि की उपान्त्य भूमिका में होती है। आरम्भ का साधक उसकी सम्यक् साधना नहीं कर पाता। उसके लिए यह मुद्रा निरूपयोगी है।

(५) उड्डीयानबन्धमुद्रा—दीर्घ रेचक करके नाभि के ऊपर-नीचे के भागों को मेरुदण्ड की ओर आकृष्ट करना, उसको 'उड्डीयानबन्धमुद्रा' कहते हैं।

मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा और जालंधरमुद्रा—ये तीनों मुद्राएँ सर्वप्रथम सिद्धासन का आश्रय लेकर सिद्ध की जाती हैं। तदनन्तर उनको किसी भी आसन में किया जा सकता है। जब इन तीन मुद्राओं को क्रमशः एक साथ किया जाता है, तब उस अवस्था को 'त्रिबन्ध' कहते हैं। यह त्रिबन्ध ही तन्त्रों की भावमयी भाषा में शिवजी अथवा भगवती शक्ति का 'त्रिशूल' है। इस त्रिबन्ध द्वारा जब जिह्वाबन्धमुद्रा—खेचरीमुद्रा सिद्ध हो जाती है, तब त्रिबन्ध गौण हो जाते हैं। सामान्य साधकों को इन मुद्राओं का अभ्यास प्राणायाम का उत्तम अभ्यास करके ही करना चाहिए। इस मुद्रा का सम्बन्ध मणिपूर एवं सहस्रारचक्र के साथ है।

(६) जालंधरबन्धमुद्रा—कण्ठ को सिकोड़कर मस्तक को नीचे की ओर झुकाना और ठोड़ी को वक्ष पर दृढ़तापूर्वक दबाना उसको 'जालंधरबन्धमुद्रा' कहते हैं। यह मुद्रा किसी भी आसन में पूरक अथवा रेचक के अन्त में की जाती है। पूरक के अन्त में अन्तःकुम्भक और रेचक के अन्त में बाह्यकुम्भक किया जाता है। इस मुद्रा के अभ्यास से प्राण पश्चिममध्यमार्ग का प्रवासी बनकर अन्त में सहस्रारचक्र में सुस्थिर होता है। भ्रामरी एवं मूर्च्छा नामक प्राणायाम भी इसके अभ्यास द्वारा सिद्ध होते हैं।

(७) विपरीतकरणीमुद्रा—लम्बे सोकर रेचक करते हुए दोनों भुजाओं के बल शरीर का कटिपर्यन्त का भाग ऊँचा करना, वाम-दक्षिण हाथों के पंजों से पृष्ठ भागों को पकड़कर ऊँचा रखना और दृष्टि को नाभि की दिशा में तथा चित्त को मणिपूरचक्र में स्थापित करना। अन्त में रेचक समाप्त होने पर कुम्भक करना—यह 'विपरीतकरणी मुद्रा' है।

यह विपरीतकरणीमुद्रा सर्वांगसन से बहुत अंशों में समान है, परन्तु दोनों में विषमता भी है। सर्वांगसन में पाँव और उसके ऊपर के शरीर को समान्तर रखा जाता है, जबकि विपरीतकरणीमुद्रा में केवल पाँव को ही हाथ के समान्तर रखा जाता है। सर्वांगसन सिर्फ आसन ही होने से उसमें कोई विशेष क्रिया नहीं की जाती, परन्तु विपरीतकरणी मुद्रा होने से उसमें गुह्यांग को बार-बार भीतर सिकोड़ा जाता है। 'शिवसंहिता' में शीर्षासन को विपरीतकरणी





कहा है और उपर्युक्त प्रक्रिया करने का आदेश दिया है। इससे यह फलित होता है कि विपरीतकरणी मुद्रा का विकसित रूप शीर्षासन है। वही 'पूर्णविपरीतकरणीमुद्रा' है।

(८) **खेचरीमुद्रा अथवा जिह्वाबन्धमुद्रा**—आरम्भ का सामान्य साधक इस खेचरीमुद्रा का अभ्यास नहीं कर सकता। हाँ, जिस साधक का प्राणोत्थान हो चुका है और जो शक्तिचालनमुद्रा का उत्तमरीति से अभ्यास करता है वही खेचरीमुद्रा के निकट जा सकता है।

खेचरीमुद्रा किसी भी आसन में की जा सकती है। उसमें केवल रसना को तालु के विवर में आये हुए छिद्र—दशमद्वार—में प्रविष्ट करके दृष्टि को भूमध्य में स्थिर करना पड़ता है।

जो साधक योगशास्त्रों से खेचरीमुद्रा का वर्णन पढ़कर अथवा असिद्ध गुरु के उपदेश द्वारा रसना के शिराबन्ध को किसी शस्त्र द्वारा काटकर खेचरीमुद्रा का अभ्यास करता है वह कदापि समाधि सिद्ध नहीं कर सकता तथा उसको किसी प्रकार की योगसिद्धि भी प्राप्त नहीं होती। आचार्यानुग्रह द्वारा जिस साधक की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है वही खेचरीमुद्रा का आविष्कार कर सकता है। आरम्भ में योगाग्नि के बल से रसना के नीचे का शिराबन्ध कटता है। तत्पश्चात् चालन और दोहन की प्राकृतिक क्रियाएँ गतिशील होती हैं। अन्त में रसना कपालकुहर—दशमद्वार में प्रवेश करने के लिए प्रयास करती है और उसमें विजय पा लेती है।

जब सबीज समाधि के अन्त में वज्रोली अथवा योनिमुद्रा का आविर्भाव होता है तब रसना में शिश्न के समान प्रबल जागृति आती है और वह अपान को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है, तत्पश्चात् योगी ऊर्ध्वरेता बनता है।

खेचरी की सिद्धि के अनन्तर योगी को अमृतपान का शुभावसर संप्राप्त होता है। परिणामतः देह के पुराने परमाणुओं का विनाश होता है और उसके स्थान पर नूतन परमाणुओं का सर्जन होता है और वे ही दिव्यदेह का निर्माण करते हैं। दिव्यदेह की प्राप्ति के पश्चात् ही निर्बीज समाधि के मार्ग का उद्घाटन होता है।

खेचरीमुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार, विशुद्ध एवं आज्ञाचक्र के साथ है।

(९) **महावेधमुद्रा**—महाबन्धमुद्रा की स्थिति में बैठिए। तदनन्तर खेचरीमुद्रा द्वारा पूरक करके और दृष्टि को दृढतापूर्वक भूमध्य में स्थापित करके मस्तक को आकाश की ओर ऊँचा रखिए। पश्चात् दोनों हाथों को फैलाकर रखें, शरीर को आगे झुकावें और अन्त में दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर स्थापित करें। ऐसा करने पर नितम्ब कुछ ऊपर की ओर उठेंगे। अन्त में मूल स्थिति में आ जाना चाहिए और किसी भी एक पार्श्व पर हाथ की मुट्ठी से प्रहार करना चाहिए।

जब मूलबन्धमुद्रा द्वारा प्राण-अपान का ऐक्य होता है तब प्लाविनी प्राणायाम द्वारा साधक योगी के दोनों पार्श्वों में वायु भर जाती है। उस समय जब वह किसी भी एक पार्श्व पर हाथ की मुट्ठी से बलपूर्वक प्रहार करता है, तब तत्क्षण उसके मुख द्वारा 'हूँ' जैसी गर्जना स्वाभाविक रीति से निकलती है। यहाँ यह स्मरण रहे कि महामुद्रा, महाबन्धमुद्रा और महावेधमुद्रा का अभ्यास एक साथ करना पड़ता है। इस मुद्रा का सम्बन्ध आज्ञाचक्र के साथ है।

यह मुद्रा भी सबीज समाधि की अन्तिम भूमिका में होती है, अतः सामान्य साधक के लिए निरूपयोगी है।

(१०) **वज्रोली अथवा योनिमुद्रा**—मूत्रमार्ग को निर्मल करने के लिए रबड़ के कैथेटर को तेल लगाकर लिग के छिद्र में धीरे-धीरे चढ़ाना चाहिए। आरम्भ में एक इंच, तदनन्तर क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए दस से बारह इंच तक चढ़ाना चाहिए। इस क्रिया का उद्देश्य केवल मूत्रमार्ग की शुद्धि ही है। मूत्रमार्ग से दूध चढ़ाना और स्त्री-समागम करके स्खलित वीर्य को पुनः आकषित करने की चेष्टा करना इसका नाम वज्रोली नहीं है। यह एक बड़ा भारी भ्रम है।

सिद्धासन बाँधकर और प्राणापान को मस्तक पर चढ़ाकर वाम-दक्षिण नेत्रों को तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से, वाम-दक्षिण कर्णों को दोनों अंगूठों से, नासिका के वाम-दक्षिण छिद्रों को दोनों अनामिका अंगुलियों से और दोनों ओष्ठों के वाम-दक्षिण भागों के दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों से दबाकर भूमध्य में दृष्टि और चित्तवृत्ति को स्थिर करे और अन्त में योनिमुद्रा द्वारा गुह्येन्द्रिय को भीतर सिकोड़े।

जब तक यह मुद्रा सिद्ध नहीं हो पाती यानी वीर्य ऊर्ध्वगामी नहीं बन पाता तब तक उसके सामर्थ्य की प्रतीति नहीं होती। मूलबन्ध सिद्ध होने पर ही योनिमुद्रा सिद्ध होती है। प्राणापान के ऐक्य के लिए योगी को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है। जो योगी योनिमुद्रा सिद्ध कर सकता है वही सबीज समाधि को सिद्ध करके योगाग्निमय दिव्यदेह की संप्राप्ति कर सकता है। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार एवं सहस्रार चक्र के साथ है। यह मुद्रा सबीज



समाधि की अन्तिम भूमिका में होती है, अतः सामान्य साधक के लिए निरूपयोगी है। हाँ, इसके द्वारा प्रत्याहार का सामान्य ध्यान किया जा सकता है।

यदि योग की दृष्टि से इन दसों मुद्राओं को क्रम दिया जाये तो वह इस प्रकार हो सकता है—मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा, जालन्धरबन्धमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महामुद्रा, महावेधमुद्रा और वज्रोली अथवा योनिमुद्रा।

उपर्युक्त मुद्राएँ पञ्च धारणाओं—पार्थिवीधारणा, आंभसीधारणा, आग्नेयी अथवा वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा और आकाशी अथवा तत्त्वरूपवती धारणा—में विभक्त हो जाती हैं। भूचरी, अगोचरी, चाचरी इत्यादि पंच मुद्राओं का भी इनमें समावेश हो जाता है।

इनसे अतिरिक्त अन्य मुद्राएँ भी हैं—तड़ागी, मांडवी, शांभवी, नभोमुद्रा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी, भुजगिनी, संक्षोभिणी, द्रावणी, आकर्षणी, वशी, उन्माद, महाकुश, मान्डूकी आवाहन इत्यादि।



३. प्राणायाम योग की कुञ्जी है। अनुलोम-विलोम प्राणायाम का नियमित अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

जीवित और मृत शरीर में केवल एक ही अन्तर होता है, वह यह कि जीवित शरीर में प्राण होता है और मृत शरीर में प्राण नहीं होता, अतः सिद्ध होता है कि शरीर में प्राण का ही सर्वोच्च स्थान है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि आत्मा और शरीर के मध्य में प्राण एक कड़ी रूप होता है। उस कड़ी के अभाव में शरीर निश्चेतन शव हो जाता है। विश्व का कोई भी योग क्यों न हो, इसमें परोक्ष अथवा अपरोक्ष रीति से प्राण ही की उपासना करनी पड़ेगी तभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो सकेगा।^{२३} पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पंच-महाभूत प्रकृति के प्रधान तत्त्व हैं। उनमें से पृथ्वी स्थूल है, पृथ्वी से जल सूक्ष्म, जल से अग्नि, अग्नि से वायु और वायु से आकाश सूक्ष्म है। वायु प्रकृति का चौथा तत्त्व है, अतः उसके निग्रह से समस्त तत्त्वों की शीघ्र ही संशुद्धि होती है।

ज्ञानमार्गी साधक भी प्राणसंयम को अतिशय महत्त्व देते हैं। वेदों और उपनिषदों में प्राणोपासना की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। शंकराचार्यजी ने भी श्वेताश्वतरोपनिषद् के भाष्य में कहा है—“प्राणापान द्वारा जिस साधक के पाप क्षीण हो चुके हैं वहीं साधक ब्रह्म में स्थिर होता है। इसलिए सर्वप्रथम नाडीशोधन करना चाहिए। तत्पश्चात् ही प्राणायाम करने की पात्रता आती है।” अन्त में उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य के वचनों को उद्धृत किया है—“रेचक, पूरक और कुम्भक के क्रम से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राण और अपान का संयोग ही प्राणायाम कहलाता है। हे गार्गी ! प्रणव त्रिरूप है। इस रेचक, पूरक और कुम्भक को ही प्रणव समझ।”^{२४}

४. केवल प्रत्याहार से भी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, अतः प्रत्याहार भी पाँच प्रकार के हो सकते हैं। साधक को आरम्भ में जिस ज्ञानेन्द्रिय का प्रत्याहार अधिक सरल एवं प्रिय प्रतीत होता हो उस ज्ञानेन्द्रिय का अवलम्बन लेने की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता है। तत्पश्चात् उसमें प्रगति होने पर शेष इन्द्रियों के प्रत्याहार भी अपने आप होने लगेंगे। तदनन्तर क्रम की समस्या उपस्थित नहीं होती। मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्बद्ध रहता है, इसलिए उसको स्थिर करने के लिए किसी भी एक ज्ञानेन्द्रिय का आश्रय लेना ही पड़ता है।

बहिर्मुख मन को अन्तर्मुख बनाने का कार्य सुलभ हो जाय इसलिए ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाना पड़ता है। जिस ज्ञानेन्द्रिय को अन्तर्मुख बनाने की इच्छा हो उसका द्वार बन्द करना चाहिए। इस प्रकार द्वारों को बन्द करके जो ध्यान किया जाता है उसे प्रत्याहार का ध्यान कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वार बन्द किये बिना भी प्रत्याहार हो सकता है। ऐसे प्रत्याहार में मन को किसी बाह्य पदार्थ पर केन्द्रित करना पड़ता है। किन्तु इसमें वह बाह्य वातावरण से अधिक प्रभावित होता है, जिससे प्रत्याहार में बार-बार विक्षेप होता है। इन्द्रियों के द्वार बन्द करने का प्रयोजन इतना ही होता है कि इन्द्रियों द्वारा मन में क्षोभ न हो। जैसे अज्ञात व सज्ञात अवस्था में अग्नि का स्पर्श होते ही वह



अंग उससे दूर हो जाता है, उसी प्रकार अवांछनीय विषय-सम्बन्ध को रोकने के लिए उस इन्द्रिय को सिकोड़ा जाता है। पाँचों इन्द्रियों को सिकोड़ने के पश्चात् किसी मन्त्र बीज अथवा आराध्य देव-गुरु के बिम्ब पर मन को लगाया जाता है। मन के उस बीज पर स्थिर होने के बाद प्रत्याहार सिद्ध होता है।

प्रत्याहार को सिद्ध किये बिना जो धारणा-ध्यान किये जाते हैं वे आत्माहीन अचेतन शरीरतुल्य हैं। ऐसी अवस्था में समाधि की तो सम्भावना ही नहीं है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयों के पृथक्-पृथक् अथवा समूहगत प्रत्याहार करते समय क्रमशः कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका के द्वार बन्द अथवा मुक्त रखने पड़ते हैं।

(१) कर्ण का प्रत्याहार—कर्ण के प्रत्याहार में नेत्रों के द्वार बन्द करने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु कर्ण इन्द्रिय का प्रत्याहार उत्तम हो और चित्त भी बहिर्मुख न हो इसलिए नेत्रों के द्वार बन्द किये जाते हैं। यदि एक इन्द्रिय के प्रत्याहार में दूसरी इन्द्रिय का प्रत्याहार सहायक बनता हो तो उसकी सहायता लेने में भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है।

प्रत्याहार के समय बाह्य वातावरण में उठने वाली विविध ध्वनियों द्वारा और दृष्टिगोचर होने वाले विविध दृश्यों द्वारा मन में जितने विक्षेप होते हैं उतने विक्षेप स्पर्श, रस और गंध द्वारा नहीं होते। अतः कर्ण और नेत्र के प्रत्याहार आरम्भ के साधकों को सरल एवं प्रिय प्रतीत होते हैं। इन दोनों प्रत्याहारों की विशिष्टता यह है कि इनमें जिस इन्द्रिय के द्वारों को बन्द रखना होता है, उस इन्द्रिय के द्वारों को बन्द रखकर गृहीत ध्यान में आसन परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस प्रत्याहार में मन को एक ही इन्द्रिय अथवा ध्येय में केन्द्रित करना पड़ता है। जब श्रमित शरीर एक प्रतिकूल अवस्था का परित्याग करके दूसरी अनुकूल अवस्था प्राप्त करने की प्रवृत्ति करता है तब उसको रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि साधक को प्रत्याहार की अवस्था में आसन की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। शरीर को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके ही ध्यान करना चाहिए।

“ध्यान और प्रत्याहार में क्या अन्तर है ?”

प्रत्याहार ध्यान की ही एक निम्न अवस्था है। इसमें प्राण और इन्द्रियों की प्रधानता और मन की गौणता होने के कारण इन्द्रियों और प्राण को अन्तर्मुख बनाने के लिए आयास किया जाता है। ध्यान में प्राण और मन की प्रधानता और इन्द्रियों की गौणता होने के कारण प्राण और मन को स्थिर करने के लिए आयास किया जाता है।

स्वानुकूल आसन पर बैठकर, दोनों नेत्रों को दोनों हाथों की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से बिना भार दिये दबाकर तथा वाम-दक्षिण कर्णों के छिद्रों में वाम-दक्षिण हाथों के अंगूठों को दबाकर अनाहतनाद श्रवण करने का आयास करना चाहिए। दोनों हाथों की अनामिका अंगुलियाँ नासिका के नीचे उपरि-ओष्ठ के ऊर्ध्वभाग पर और कनिष्ठिका अंगुलियाँ निम्न-ओष्ठ के अधोभाग पर रखना चाहिए। इस प्रक्रिया को शब्द का प्रत्याहार, नाद समाधि अथवा नादानुसन्धान कहते हैं। इसमें दृष्टि भ्रूमध्य में होती है और मस्तक आकाश की ओर होता है। कर्ण के प्रत्याहार की यह विधि ‘क्रियायोग’ की है।

कर्ण का यह प्रत्याहार भक्तजन भाव की दृष्टि से करते हैं। वे कर्णों के छिद्रों में न तो अंगूठों को दबाते हैं और न रुई ही डालते हैं। उनको वैसा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वे कर्णों में अत्यन्त आतुरता उत्पन्न करके एकाग्रचित्त से सुशील सन्त के मुख से पुराणवर्णित भगवान् की अवतार लीलाओं को श्रवण करते हैं अथवा भगवद् भजन को सुनते हैं।

यह प्रथम सोपान है। प्राणोत्थान के पश्चात् वे भी कर्णों के द्वारों को बन्दकर अन्तर्नाद सुनने का आयास करते हैं।

(२) त्वचा का प्रत्याहार—समग्र शरीर त्वचा द्वारा आवेष्टित है और त्वचा साढ़े तीन करोड़ रन्ध्रों से परिपूर्ण है। ऐसी करोड़ों रन्ध्रों अथवा रोमछिद्रों वाली त्वचा का प्रत्याहार किस द्वार को बन्द करके सिद्ध किया जाय ? कर्ण, नेत्र, नासिका और जिह्वा—इन चार इन्द्रियों के समस्त द्वारों का समावेश मस्तक के विभाग में हो जाता है, परन्तु त्वचा का विस्तार तो समस्त शरीर में होता है। त्वचा का प्रत्याहार यानी पाँचों इन्द्रियों का सामूहिक प्रत्याहार है। उसको सामूहिक प्रत्याहार इसलिए कहा गया है कि जब विषयवासना उत्पन्न होती है तब विषयी स्त्री-पुरुष के मन में पाँचों विषयों की लोलुपता एक साथ उत्पन्न होती है। इस प्रयोजन से सबीज समाधि के उच्च कक्षा के साधक आरम्भ में शक्तिचालनमुद्रा का और अन्त में योनिमुद्रा का अवलम्बन लेते हैं।

यह प्रत्याहार सिद्धासन पर आरूढ़ होकर किया जाता है। दक्षिण अथवा वाम पार्श्व द्वारा सीवनी को

दबाकर दक्षिण अथवा वाम पार्श्व द्वारा गुह्येन्द्रिय के मूल को दबाना अथवा दक्षिण अथवा वाम पार्श्व द्वारा गुदाद्वार को दबाकर दक्षिण अथवा वाम-पार्श्व द्वारा गुह्येन्द्रिय के मूल को दबाना। तत्पश्चात् वाम-दक्षिण नेत्रों को वाम-दक्षिण हाथों की तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों से, वाम-दक्षिण कर्णों को वाम-दक्षिण हाथों के अँगूठों से, वाम-दक्षिण नासापुटों को वाम-दक्षिण हाथों की अनामिका अंगुलियों से और दोनों बन्द ओष्ठों को वाम-दक्षिण हाथों की कनिष्ठिकाओं से दबाकर दिव्य स्पर्श के लिए कुम्भक सहित ध्यान करना चाहिए। इस प्रत्याहार को योनिमुद्रा और लयसमाधि कहते हैं। इस प्रत्याहार में गुह्येन्द्रिय का आकुंचन बार-बार किया जाता है तथा खेचरीमुद्रा द्वारा अपानवायु को ऊर्ध्व की ओर आकषित किया जाता है।

योगी इस प्रत्याहार के अभ्यास द्वारा वीर्य का अधःपात रोककर उसको ऊर्ध्वगामी बना लेता है। जब तक वीर्य ऊर्ध्वगामी नहीं बन पाता तब तक सबीज समाधि सिद्ध नहीं हो पाती और योगी भी ऊर्ध्वरेता नहीं बन पाता। जो योगी ऊर्ध्वरेता बनता है उसको दिव्यदेह और ऋतंभराप्रज्ञा की उपलब्धि होती है। यह योगविज्ञान है। तत्पश्चात् ही निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। जिसको दिव्यदेह और ऋतंभरा प्रज्ञा की संप्राप्ति नहीं हुई है वह योगी विश्वविख्यात, विश्ववंद्य, विश्ववक्ता आदि कुछ भी क्यों न हो, केवल साधक ही है। यह दिव्यदेह और ऋतंभराप्रज्ञा की संप्राप्ति ज्ञानयोगी, भक्तयोगी एवं कर्मयोगी इन सबको होती है।

यह सबीज समाधि अनन्त विघ्नों से परिपूर्ण है। इस कारण ही क्रम-मुक्ति एवं सद्योमुक्ति ऐसे दो मार्गों की उत्पत्ति हुई है। वे ही मार्ग दक्षिणायन और उत्तरायण कहलाते हैं। यथेष्ट समय तक साधना करने के अनन्तर ही योगी क्रममुक्ति की यात्रा समाप्त कर सकता है। अन्त में वह सद्योमुक्ति का अधिकारी बनकर वर्तमान जन्म में ही मुक्ति को पा लेता है। सबीज समाधि की सिद्धि में योग्य गुरु के परमानुग्रह की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

सामान्य साधक इस ध्यान में सिद्धासन का उपयोग न करे। विशेष साधक भी जब तक प्राणोत्थान द्वारा सिद्धासन अपने आप होने न लगे तब तक न करे।

उपर्युक्त विधि निष्काम कर्मयोग—क्रियायोग—की है।

भक्तिमार्गी साधक भावप्रधान होता है, अतः उसको अपने आराध्यदेव की प्रतीक पूजा में विलक्षण आनन्द आता है। बहुत प्रयास करने पर भी जब भगवान् की मूर्ति उसके मन-मस्तिष्क में सुस्थिर नहीं हो पाती, तो वह प्रतीक द्वारा अपूर्ति की पूर्ति कर लेता है, परिणामतः उसके प्रेमभाव का सातत्य अखण्डित रहता है। मानव का जड़ शरीर भी मूर्ति ही है। वह जब प्राणहीन हो जाता है तब उससे कोई स्नेह नहीं करता। धनहीन रिक्तकोश खुला हो तो उसमें से कोई कुछ चुरा ले जायेगा यह भाव उद्भूत ही नहीं होता। जैसे जड़ शरीर को बिसारकर उसमें रहे हुए चेतन से स्नेह किया जाता है, वैसे मूर्ति की जड़ता को बिसारकर उसमें आरोपित ईश्वरभाव से ही स्नेह किया जाता है।

सूक्ष्मदर्शक काँच पर सूर्य की किरणों को केन्द्रित करके तृण या रूई को जलाया जा सकता है। केवल सूर्य किरणों से अथवा किसी भी काँच पर सूर्य किरणों को केन्द्रित करने से अग्नि प्रज्वलित नहीं होती और तृण एवं रूई जलते नहीं हैं। जिस प्रकार अग्नि के प्राकट्य के लिए विशेष प्रकार के काँच की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार प्रतीक में ईश्वर को देखने के लिए भी विशेष प्रकार के भाव की आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार भक्तिमार्गी साधक आराध्यदेव के प्रतीक का स्पर्श करके त्वचा का प्रत्याहार सिद्ध करता है किन्तु आगे चलकर जब उसका प्राणोत्थान हो जाता है—उसका भगवत्लीला में प्रवेश हो जाता है—तब उसके अन्तःकरण में गोपीभाव अथवा अन्य प्रकार का निर्मल प्रेमभाव प्रकट होता है और वह पूर्ववर्णित कर्मयोग वाला प्राकृतिक ध्यान करने लगता है।

ज्ञानमार्गी साधक भी ज्ञान के प्रतीकतुल्य श्रीसद्गुरुदेव के श्रीचरणों का स्पर्श करके अथवा उनका चिन्तन करके त्वचा का प्रत्याहार सिद्ध करता है। वह भी जब लयचिन्तन (यह ज्ञानयोग का पारिभाषिक शब्द है। उसका पर्याय निदिध्यासन है। प्राणोत्थान कर्मयोग का पारिभाषिक शब्द है। वह 'लयचिन्तन' का समानार्थक शब्द है।) में लीन हो जाता है, तब त्वचा का प्रत्याहार सिद्ध कर लेता है और ऊर्ध्वरेता बन जाता है।

(३) रूप का प्रत्याहार—अरुणोदय होते ही आँखें खुल जाती हैं और उनमें असंख्य दृश्यों की छवियाँ अंकित हो जाती हैं। मानो सरोवर के स्थिर जल में पत्थरों एवं कंकड़ों की अखण्ड वर्षा होती है। उससे मन अतिशय चञ्चल हो उठता है। इस अवस्था के निग्रह के लिए रूप का प्रत्याहार अत्युपयोगी है।

स्वानुकूल आसन पर बैठकर वाम-दक्षिण नेत्रों को वाम-दक्षिण हाथों की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों



द्वारा अधिक भार दिये बिना दबाकर तथा मस्तक को आकाश की ओर रखकर आत्मज्योति के दर्शन के लिए मन को नेत्रेन्द्रिय में केन्द्रित करना चाहिए। उस समय वाम-दक्षिण हाथों की अनामिकाएँ नासिका के नीचे उपरि-ओष्ठ के ऊर्ध्व भाग में, और कनिष्ठिकाएँ अधरोष्ठ के निम्न भाग में रखना चाहिए। इस ध्यान को रूप का प्रत्याहार अथवा ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। ध्यान में विक्षेप न हो इसलिए वाम-दक्षिण कर्णों के छिद्रों में वाम-दक्षिण हाथों के अँगूठों को यदि दबाना चाहें तो दबा सकते हैं।

इस ध्यान में पीला (पृथ्वीतत्त्व), श्वेत (जलतत्त्व), रक्त (अग्नितत्त्व), धूम्रतुल्य (वायुतत्त्व), तथा सम्मिश्र विविध रंग (आकाशतत्त्व) दिखायी देते हैं।

भक्तिमार्गी साधक निर्निमेष नेत्रों से अपने आराध्यदेव के प्रतीक का ध्यान करते हैं। ज्ञानमार्गी साधक दीपज्योति अथवा ॐकार की छवि का निर्निमेष नेत्रों से ध्यान करके रूप का प्रत्याहार करते हैं। कई साधक किसी भी प्रकार का प्रतीक न रखकर निर्निमेष नेत्रों से ध्यान करके रूप का प्रत्याहार करते हैं।

यह प्राथमिक साधना है, किन्तु जब ज्ञानमार्गी साधक लयचिन्तन के प्राकृतिक पथ का प्रवासी बन जाता है तब वह उपर्युक्त 'क्रियायोग' का रूप-प्रत्याहार करने लगता है और भक्तिमार्गी साधक जब भगवत्लीला में प्रविष्ट हो जाता है तब वह भी 'क्रियायोग' का रूप-प्रत्याहार करने लग जाता है।

(४) रस का प्रत्याहार—मन रसीला और रसना भी रसीली, दोनों एक समान हैं। चाहे जैसा कठोर बन्धन बाँधो उनको, वे केवल एक ही झटके से सब तोड़ देते हैं। जब तक मलिन मन सत्संग द्वारा विशुद्ध नहीं होता तब तक उस पर ज्ञान का श्वेत, भक्ति का गेरुआ और योग का श्याम रंग कभी नहीं चढ़ता। किसी भी एक रंग में रंग जाने के पश्चात् ही रसना का प्रत्याहार सरल बनता है।

रसना एवं त्वचा के प्रत्याहार में एक-सी योग प्रक्रिया होती है। उसमें विपरीत रसना को कण्ठ के ऊर्ध्वभाग में और तालु के अन्त में आये हुए छिद्र—दशमद्वार—में खड़ी करके अमृतपान करना होता है। उसको रस का प्रत्याहार अथवा रसानन्द समाधि कहते हैं।

भक्तिमार्गी साधक भजन गाता है, नाममन्त्र का मौखिक जप करता है, आराध्यदेव के प्रतीक का चरणोदक पीता है और उसको समर्पित किया हुआ प्रसाद पाता है—यह रसना का प्रत्याहार ही है। उस भूमिका को लाँघकर जब वह भगवत्लीला में प्रविष्ट हो जाता है तब प्राप्त अनाहतनाद द्वारा अहनिश 'राम' अथवा 'ॐ' मन्त्र का जप करने लगता है। उस अवस्था में उसको रामरस अथवा अमृतपान करने का शुभावसर सम्प्राप्त होता है। उस समय वह पूर्ववर्णित निष्काम कर्म वाली योग प्रक्रिया ही करता है।

ज्ञानमार्गी साधक भी 'ॐ' मन्त्र का मौखिक जप करता है और सद्गुरु के चरणोदक का पान करता है—वह भी रसना का ही प्रत्याहार है। उस भूमिका को पार करके जब वह लयचिन्तन द्वारा अनाहत 'ॐ' और 'राम' मन्त्र का अहनिश जप करने लगता है तब उसकी अज्ञान की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है और वह सर्वत्र शुद्धात्मा अथवा परमात्मा का दर्शन करता हुआ उस अमृत का पान करने लगता है। उस अवस्था में वह भी पूर्ववर्णित निष्काम कर्मयोग वाली योग प्रक्रिया ही करता है।

स्तोत्रों के गान द्वारा अथवा अन्य धर्मशास्त्रों के मौखिक पाठ द्वारा भी लयचिन्तन—प्राणोत्थान—की उपलब्धि हो सकती है।

विलम्बित लय में स्वराभ्यास अथवा रागाभ्यास करने से प्राणोत्थान हो सकता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत तो योग का ही आविष्कार है, अतः इसकी गणना भारतीय संस्कृति में की जाती है। संगीत का अन्तर्भाव नादयोग, लययोग, बिन्दुयोग अथवा हठयोग में हो सकता है। भक्तियोग का यह सर्वोत्कृष्ट साधन है।

अनाहतनाद के साथ स्वयंभू नृत्य भी संलग्न है। यही 'रासलीला' है। वह योग का ही आविष्कार है, अतएव उसकी गणना भारतीय संस्कृति में की जाती है। उसका अन्तर्भाव भी उपर्युक्त योगों में हो जाता है। मन्दिरों एवं गुहाओं में भी देव-देवियों की असंख्य प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनको देखकर कई लोग यह अनुमान लगाते हैं कि यह कार्य शिल्प, नृत्य इत्यादि कलाओं की सुरक्षा तथा विकास के लिए किया गया है, किन्तु इस अनुमान में पूर्ण तथ्य नहीं है। हमारे महापुरुषों ने इस कार्य को प्रेरणा देकर आशयपूर्वक करवाया है। संस्कृति का मूल है धर्म। धर्म ज्ञान, भक्ति एवं योग के सत्यपूर्ण अनुभव पर आधारित है। इन अनुभवों का जतन मूर्तियों में कुशलतापूर्वक किया गया है। मूर्तियाँ योग के निगूढ़ ग्रन्थ ही हैं। इनमें ज्ञान, योग एवं भक्ति के सूत्रों तथा प्रक्रियाओं के रहस्य प्रच्छन्नरूप से अंकित हैं। संगीत और नृत्य का विनियोग संस्कृति और धर्म के लिए करना चाहिए न कि केवल भोग-विलास के लिए।

शिवजी का एक नाम है—‘नटेश्वर’ और श्रीकृष्ण का एक नाम है ‘नटवर’। दोनों के ये एकार्थी नाम सार्थक हैं। उभय नृत्यकार भी हैं और संगीतकार भी। शिवजी का ‘ताण्डवनृत्य’ और श्रीकृष्ण का ‘रासनृत्य’ सुप्रसिद्ध है।

योग द्वारा अनाहतनाद की उपलब्धि होती है। वही शक्ति है।^{१५} दुर्गा, राधा इत्यादि देवियों को भी नृत्य और संगीत अतीव प्रिय है, क्योंकि वही उनका स्वरूप है।

(५) गन्ध का प्रत्याहार—गन्ध की लोलुपता भी अति प्रबल होती है। वह भी मानव को विपरीत पथ का प्रवासी बना देती है। साधक को इस गन्ध के सागर को भी विवेकबुद्धि की सहायता द्वारा तैरना पड़ता है।

स्वानुकूल आसन पर स्थित होकर नासिका के दक्षिणरन्ध्र को दक्षिण हाथ के अंगूठे से दबाकर वामरन्ध्र से वायु को यथाशक्ति धीरे-धीरे भीतर आकर्षित करना चाहिये। जब वह सम्पूर्ण आकर्षित हो जाय तब वाम छिद्र को दक्षिण हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से दबाकर आभ्यन्तर कुम्भक करना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करके दक्षिण रन्ध्र द्वारा वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्राणायाम को अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहते हैं। उपर्युक्त क्रमानुसार प्राणायाम करने से उसकी एक आवृत्ति होती है। प्राणायाम करते समय इष्टमन्त्र का मानसिक जप करना चाहिए। इस गन्ध के प्रत्याहार से साधक को दिव्यगन्ध की अनुभूति होती है। इस प्रक्रिया को अजपाजप, हंसयोग, हठयोग अथवा प्राणोपासना भी कहते हैं।

अजपाजप का एक विशिष्ट प्रकार और भी है। उसकी विधि यह है। सिर, ग्रीवा और काया को सीधा रखकर स्वानुकूल आसन पर बैठना और दृष्टि को नासाग्र पर संस्थापित करके श्वासोच्छ्वास की गति का निरीक्षण करते रहना। जब दोनों नासाग्रों द्वारा वायु भीतर प्रवेश करे तब मन में ‘ओम्’ बोलना और बाहर निकले तब ‘एक’। इस प्रकार श्वास की गिनती स्वस्थचित्त से करते रहना। यह क्रिया करते समय यह भी देखना कि वायु जब भीतर प्रवेश करती है तब वह किन-किन अवयवों को प्रभावित करती है। हाँ, यह सत्य है कि आरम्भ में वायु की गति उथली है या गहरी यह एकदम ज्ञात नहीं होगा किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे निरीक्षण स्थिर और सूक्ष्म होता जायेगा और वायु की गति को समझने में कठिनाता प्रतीत नहीं होगी। यदि श्वासों की संख्याओं का मध्य में विस्मरण हो जाय तो ओम् एक, ओम् दो, ओम् तीन—इस प्रकार पुनः गिनती करना चाहिए। जैसे-जैसे मन की एकाग्रता बढ़ती जायेगी वैसे-वैसे गिनती का अवलम्बन अपने आप ही छूटता जायेगा और तन्द्रा आने लगेगी। ‘ओम्’ मन्त्र के स्थान पर राम, सोऽहम्, अहम्, इत्यादि मन्त्रों का भी प्रयोग हो सकता है। इस प्रक्रिया को अजपा-गायत्री, अजपाजप, हंसमन्त्र अथवा जप कहते हैं।

योग के अन्य साधनों की अपेक्षा प्राणायाम द्वारा अति शीघ्र प्रगति हो सकती है, किन्तु इसमें योग पारंगत गुरु के मार्गदर्शन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। उसके अभाव में साधक अगणित उपद्रवों से घिर सकता है।

भक्तिमार्गी साधक भजन-कीर्तन करता है और पण्डित शास्त्रों एवं शास्त्र में वर्णित मन्त्रों का पाठ करता है इसमें भी प्राणसंयम होता है, अतः इस प्रत्याहार का समावेश गन्ध-प्रत्याहार में किया जाता है।

ध्यान के अभ्यास से भी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। योगपारंगत बुद्धिमान आचार्य सकाम साधकों को अचलध्यान और निष्काम साधकों को चलध्यान की शिक्षा देते हैं। वे अचलध्यान में इन्द्रियों को स्थिर रखने की और चलध्यान में इन्द्रियों को स्वतन्त्रता प्रदान करने की आज्ञा करते हैं। इस चलध्यान का एक उदाहरण गमनयोग भी हो सकता है।

७. शक्तिपात और प्राणोत्थान

तन्त्रों में जिसको ‘शक्तिपात’ अथवा ‘शक्तिसंचार’ कहते हैं उसी को भक्ति और ज्ञानयोग में ‘अनुग्रह’ कहते हैं।^{१६} समर्थ गुरु दृष्टि, शब्द, स्पर्श अथवा संकल्पन इन चार प्रकारों में से किसी एक प्रकार द्वारा शक्तिपात करते हैं। शक्तिपात द्वारा प्राणोत्थान होता है।

प्राचीनकाल के योगाचार्य आवश्यकता प्रतीत होने पर ही उच्च कोटि के मुमुक्षु पर शक्तिपात करते थे, जिससे साधक के शरीर में विविध योगप्रक्रियाएँ अपने आप क्रमशः उद्भूत होती थीं, फलतः उसको उन योगप्रक्रियाओं को किसी गुरु से विधिपूर्वक सीखने की आवश्यकता नहीं रहती थी। इस प्रकार उसकी साधना आत्मनिर्भर हो जाती थी।

प्राणोत्थान किसी भी योग की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना योगयात्रा नहीं की जा सकती। हाँ, यह सत्य है कि यह प्राणोत्थान ज्ञान, योग अथवा भक्ति के किसी भी एक या एकाधिक साधनों के समुचित अनुष्ठान



द्वारा भी हो सकता है, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति बिना गुरु के भी जगायी जा सकती है, किन्तु ऐसा साधक अपनी अनुभूतियों को समुचित रूप में समझ नहीं पाता, परिणामतः उसकी प्रगति शंकाओं की बाधाओं से रुक जाती है। इस मार्ग में पूर्ण अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन की अनिवार्य आवश्यकता है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि जो गुरु शक्तिपात की दीक्षा प्रदान कर सकता है वह पूर्णयोगी ही होता है, ऐसा नहीं है। शक्तिपात की दीक्षा देने वाले हर योगी को पूर्णयोगी मान लेना, यह बहुत बड़ा भ्रम है। यदि गुरु प्रसन्न होकर 'शक्तिपात-विद्या' किसी भी सामान्य शिष्य को, जिसके प्राणोत्थान को केवल चार ही दिन हुए हों उसको, देता है तो वह भी सहस्रों मनुष्यों को एक साथ शक्तिपात की दीक्षा दे सकता है, किन्तु उसको स्वल्प भी योगानुभव न होने से वह किसी उच्च कक्षा के साधक को मार्गदर्शन नहीं दे सकता।

साम्प्रत में जो योगी शिष्यों को शक्तिपात की दीक्षा दे रहे हैं उनमें से अधिकांश योगी ऐसा ही मानते हैं कि प्राणोत्थान ही कुण्डलिनी की जागृति है; वह उनका केवल भ्रम ही है। हाँ, प्राणोत्थान द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होती है, यह सत्य है; किन्तु जिस साधक को आचार्यानुग्रह अथवा ईश्वरानुग्रह सम्प्राप्त होता है उसके शरीर में उठा हुआ शुरु का अधोगामी प्राण कुण्डलिनी नहीं है, वह तो उसको जाग्रत करने में सहायता पहुँचाने वाला सन्मित्र है। स्थूलकुण्डलिनी का कार्य चक्रभेदन और ग्रन्थिभेदन है। उसकी समाप्ति के पश्चात् ऊर्ध्वगामी प्राणापान सुषुम्ना में निरन्तर प्रवाहित होते हैं। उस भूमिका में स्थूलकुण्डलिनी का कार्य ऊर्ध्वगामी प्राणापानरूप सूक्ष्मकुण्डलिनी अपने सिर ले लेती है। उस समय 'शक्तिचालनमुद्रा' भी अपने मूल स्वरूप का परित्याग करके 'योनिमुद्रा' का स्वरूप धारण कर लेती है।

निम्नोक्त शक्तिपात ध्यानविधि में 'शब्द' एवं 'संकल्प' इन दो दीक्षा-विधियों का समावेश किया गया है। इसका प्रयोग केवल उच्च कक्षा के साधक ही करें—यह मेरा विशेष सूचन है।

(१) सिर, ग्रीवा और काया को सीधा रखकर स्वानुकूल आसन पर बैठें, किन्तु ध्यान रहे कि शरीर सीधा होने पर भी तना हुआ न हो।

(२) तदनन्तर कुछ समय श्री सद्गुरु अथवा भगवान इन दोनों में से जिस पर आपको अधिक अनुराग हो उसकी प्रेमपूर्वक मूक प्रार्थना करें—“प्रभो! मैं आपका ध्यान उत्तम प्रकार से कर सकूँ इसलिए आप मुझ पर कृपा करें।” “असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतंगमय। हे दयानिधे! (कृपा करके) मुझे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाइये।” यह दूसरी प्रार्थना भी करें।

(३) प्रार्थना के पश्चात् दीर्घप्राणायाम, भस्त्रिका अथवा अनुलोम-विलोम प्राणायाम में से किसी एक प्राणायाम की पच्चीस आवृत्ति करें।

(४) तत्पश्चात् शरीर पर से मन की सत्ता उठा लें यानी शरीर को सम्पूर्ण ढीला छोड़ दें—शिथिलीकरण करें। जब शरीर अपने आप क्रिया करने लग जाय तब उसे रोकिये मत।

(५) प्राप्त अवस्था में जो अनुभव हो रहा हो उसमें ही मन को केन्द्रित करें अथवा श्री गुरुदेव व श्री प्रभुजी की लीलाओं का चिन्तन करें अथवा महावीर, राम, इत्यादि नामों में से जो नाम अधिक प्रिय हो उसका मानसिक जप करें। गुरुमंत्र का जप भी कर सकते हैं। मैंने गन्ध के प्रत्याहार में अजपाजप की विधि—श्वास की गिनती—दिखाई है यदि उसका अवलम्बन लेना चाहें तो ले सकते हैं।

(६) ध्यान की समाप्तिपर्यन्त आँखें बन्द ही रखें। प्रतिदिन एक घण्टे का ध्यान पर्याप्त है।

(७) ध्यान धीरे-धीरे छोड़ें, शीघ्रता न करें।

(८) अंत में पुनः असतो मा सद्गमय वाली प्रार्थना करें।

उत्तम ध्यान इसलिए नहीं होता कि साधक अपने शरीर को सीधा और सम्पूर्ण तना हुआ रखने के लिए सतत आयास करता रहता है। इतना ही नहीं, उस पर मन का कठोर पहरा भी लगा देता है, अतः मन को आत्मा की गहनता में उतरने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता है। जैसे किनारे से बँधी हुई नौका में बैठकर चप्पू चलाने से वह दूसरे किनारे पर नहीं पहुँचती, उसी प्रकार शरीर पर मन का पहरा लगा देने से मन अंतर्मुख नहीं बन पाता। मनुष्य गाढ़निद्रा में एक दो बार पाश्वों को बदलता है तथापि उसको उसका बोध नहीं होता। जाग्रतावस्था में भी ऐसे असंख्य उदाहरण उपलब्ध होते हैं। गायक, वादक, चित्रकार, शिल्पकार, वक्ता, लेखक इत्यादि कलाकार अथवा अभीष्ट कार्य में निमग्न बने हुए स्त्री-पुरुष अज्ञात अवस्था में कई बार आसनों को बदलते रहते हैं। उसी प्रकार उत्तम

ध्यान में साधक भी प्राकृतिक रीति से आसन बदलता रहता है। शरीर को कष्टरहित रखने का कार्य प्राण का है, उसमें मन के आदेश की आवश्यकता ही नहीं है।

८. कुण्डलिनी जाग्रत होने पर क्या-क्या होता है ?

शक्तिपात की दीक्षा से साधकों के शरीर में प्राणोत्थान होता है। उस समय ध्यानस्थ साधकों को विविध अनुभव होने लगते हैं। यथा—

(१) किसी को रोमांच हो जाता है। (२) कोई कांपने लगता है। (३) कोई डोलने लगता है। (४) कोई विविध आसन करता है। (५) कोई विविध मुद्राएँ करता है। (६) कोई बैठे-बैठे चक्की की तरह गोल-गोल घूमने लगता है। (७) कोई मेढक की तरह इधर-उधर उछलने लगता है। (८) कोई नृत्य करता है। (९) कोई विविध प्राणायाम करता है। (१०) कोई 'राम', 'ॐ' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करता है। (११) कोई वेदध्वनि करता है। (१२) कोई नाम संकीर्तन करता है। (१३) कोई शास्त्रीय रागों का आलाप करता है। (१४) कोई बड़बड़ाने लगता है। (१५) कोई रोता है। (१६) कोई अट्टहास करता है। (१७) कोई विविध गजंजाएँ करता है। (१८) कोई चीत्कार करता है। (१९) कोई बैठा हुआ साधक आगे झुककर 'भूनमनासन' पर पड़ा रहता है। (२०) कोई बैठा हुआ साधक पीछे झुककर मत्स्यासन, शवासन इत्यादि आसन पर पड़ा रहता है। (२१) कोई आनन्ददायक स्वप्न देखता है। (२२) कोई भगवान् की लीलाओं का दर्शन करता है। (२३) कोई भयानक दृश्य देखता है। (२४) कोई प्रकाश देखता है। (२५) कोई विविध रंगों को देखता है। (२६) कोई देव-देवियों के अथवा अपने गुरु के दर्शन करता है। (२७) कोई तन्द्रा में रहता है। (२८) कोई योगनिद्रा का आस्वाद लेता है। (२९) कोई मूर्च्छित हो जाता है। (३०) किसी को मूत्रस्राव हो जाता है। (३१) किसी को वीर्यस्राव हो जाता है। इस प्रकार विविध शारीरिक प्रक्रियाएँ ध्यान की अपरिचित दिशा का उद्घाटन करती हैं। इनको योग की सामान्य अनुभूतियाँ भी कह सकते हैं।

श्रीमद्भागवत् में शक्तिपात—अनुग्रह—के ध्यान का वर्णन है। इसमें श्रीकृष्ण भगवद्भक्त की ध्यान में कैसी अवस्था होती है उसका वर्णन करते हैं—“जब तक शरीर पुलकित नहीं होता, चित्त द्रव कर गद्गद् नहीं होता, आँखों से आनन्दाश्रु बहने नहीं लगते तथा अंतरंग और बहिरंग भक्ति के पूर में चित्त प्रवाहित नहीं होता, तब तक उसकी शुद्धि की कोई संभावना नहीं है।”^{२०} “जिसकी वाणी स्नेह से गद्गद् हो गयी है, चित्त द्रव रहा है, आँखों से अश्रु बह रहे हैं, और जो कभी अट्टहास करता है, कभी निर्लज्ज होकर उच्चस्वर से गाता है कभी नृत्य करता है, प्रिय उद्धव ! ऐसा मेरा भक्त केवल अपने को ही नहीं, समस्त संसार को पवित्र करता है।”^{२१} “भक्त चक्रपाणि विष्णु के कल्याणकारक एवं लोकप्रसिद्ध अवतारों तथा उनकी लीलाओं को सुनता हुआ तथा उन गुणों का और लीलाओं का स्मरण करने वाले नामों का लज्जारहित गान करता हुआ संसार में अनासक्त होकर विचरता है।” “इस प्रकार का व्रत धारण करके वह प्रियतम प्रभु के नाम-संकीर्तन से उन पर अत्यन्त स्नेह उत्पन्न होने के द्रवित चित्त से कभी उन्मत्त के सदृश मुक्तहास्य करता है, कभी आक्रन्द करता है, कभी चीत्कार करता है, कभी उच्चस्वर से गाता है, कभी नृत्य करता है—इस प्रकार वह लोकमान्यता से परे हो जाता है।” यह सबीज समाधि की भूमिका है। यद्यपि आरम्भ का साधक भी उपर्युक्त क्रियाएँ करता है किन्तु वह साक्षात्कार को पहिचानता नहीं है। हाँ, ध्यान में आगे बढ़ा हुआ साधक ही उस साक्षात्कार को उत्तम रीति से पहिचानता है।

शिवपुराणादि पुराणों में, योगवासिष्ठ में, मण्डलब्राह्मणादि उपनिषदों में, नारद भक्तिसूत्र इत्यादि सूत्रों में और असंख्य तंत्रग्रंथों में शक्तिपात का वर्णन उपलब्ध होता है।

योगमार्ग की विविध अनुभूतियों से साधक के अन्तःकरण में श्रद्धा, शौर्य, धैर्य, ज्ञान, उत्साह, गुरुभक्ति, शास्त्रभक्ति और ईश्वरभक्ति की वृद्धि होती है। आरम्भ में उसको विविध आसन, मुद्रा, प्राणायाम, इत्यादि का परिचय होता है। मध्य में निम्नचक्रों का और मध्यचक्रों का परिचय होता है, अन्त में ऊर्ध्वचक्रों का अभ्यास दृढ़ होने पर ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि, रुद्रग्रंथि, अनाहतनाद, ज्योति, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का परिचय होता है। इस प्रकार साधक योग द्वारा योग का ज्ञान प्राप्त करता हुआ योग-यात्रा करता है।

जैसे-जैसे साधक योगाभ्यास-प्रगति सिद्ध करता जाता है वैसे-वैसे एक ही पुरानी अनुभूति नूतन स्वरूपों को धारण करके साधक के योग-मार्ग में बार-बार उपस्थित हुआ करती है, अतः आरम्भ के साधक को सावधान रहना चाहिए और किसी भी प्राप्त अनुभूति को अंतिम अनुभूति नहीं मानना चाहिए। हाँ, हम योगानुभूतियों को अनेक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, परन्तु उनके समस्त वर्गों को हमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—इन तीन वर्गों में समाविष्ट





कर लेना चाहिए। उत्तम अनुभूतियाँ अंतिम परिणाम होने के कारण उनकी उपलब्धि समान रूप में हुआ करती है, परन्तु मध्यम एवं कनिष्ठ अनुभूतियों की उपलब्धि सर्व को न्यूनाधिक रूप में अथवा परिवर्तनयुक्त प्राप्त होती है। योग के सुप्रसिद्ध ग्रंथों में समस्त आसन-मुद्राओं, प्राणायामों, प्रत्याहारों, धारणाओं और ध्यानों का विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता, केवल संक्षिप्त और अतिमहत्व का वर्णन ही प्राप्त होता है। वे ही योग की अंतिम अनुभूतियाँ हैं।

इतना होने पर भी यह स्मरणीय है कि ईश्वर अनिवर्चनीय होने से योगानुभव भी अनिवर्चनीय है। हाँ, यदि ईश्वर निर्वर्चनीय होता तो योगानुभव भी निर्वर्चनीय होते।

मन सान्त और सीमित है, ईश्वर अनंत और असीमित है। जहाँ मन की ही गति न हो वहाँ वाणी की गति कैसे सम्भव है? अतः वाणी इन्द्रियों के अनुभवों को अभिव्यक्त कर सकती है, इन्द्रियातीत अनुभवों को अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

‘शक्तिपात की दीक्षा’ संन्यास की ही दीक्षा है। इसमें कर्मफल का परित्याग करना पड़ता है। इस दीक्षा को ‘निष्काम कर्मयोग’ की दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें साधक को ऊर्ध्वरेता बनना पड़ता है। सकाम साधक का योगमार्ग इससे भिन्न है जिसमें सामान्य ब्रह्मचर्य अथवा मर्यादित संयम होता है।

शक्तिपात की दीक्षा से दीक्षित साधक योगग्रन्थों का पठन करके उनमें निर्दिष्ट की हुई योगप्रक्रियाओं का अनुष्ठान नहीं करता है। वह तो उनमें मात्र दृष्टिनिक्षेप करता है और उनकी अनुभूतियों के साथ अपनी अनुभूतियाँ मिलती हैं या नहीं, इतना ही देखता है। ऐसा साधक जब अपनी योगानुभूतियों को शास्त्रों में देखता है तब उसके आनन्द की सीमा नहीं रह पाती। इस प्रयोजन से उसकी उपासना वेगपूर्वक आगे बढ़ती है और उसको शास्त्रचिन्तन में भी अवर्णनीय आनन्द आता है। जब तक साधक को ऐसा अनुभव नहीं होता, तब तक उसको ‘शास्त्रकृपा’ का सत्य सहस्य अवगत नहीं होता।

जो प्रचारक प्राचीन शास्त्रों के दृष्टिकोण को बिना समझे उनकी निन्दा करता है और अपने अनुभवों को ही गुप्त रीति से अधिक महत्व प्रदान करता है वह बाहर से कितना भी विनम्र क्यों न हो किन्तु भीतर से अभिमान ही होता है। वह सत्य की नहीं अपितु स्वयं की प्रतिष्ठा करना चाहता है। सत्य का सम्मान चाहने वाला साधक पूर्वाचार्यों के अनुभवों का गुणगान करने लगता है और श्रेष्ठ शास्त्रों की समाज में सुप्रतिष्ठा करता है।

शास्त्रों का अस्तित्व उनकी अपनी विशेषताओं पर और सत्य पर निर्भर है। पूर्वकाल में ऐसे कई सामान्य ग्रन्थों की रचना हुई थी और उनकी सुरक्षा भी की गई थी फिर भी वे नष्ट हो गये हैं, आज उन ग्रन्थों के नाम तक कोई नहीं जानता। इससे विपरीत, आज प्राचीन अप्राप्य शास्त्रों को प्राप्त करने के लिए अथाह प्रयत्न किया जाता है।

मान लें कि प्राचीन शास्त्रों में सम्पूर्ण असत्य ही भरा हुआ है तो भी वे अत्युपयोगी हैं, क्योंकि सत्य के अन्वेषण में असत्य उपलब्ध होने के कारण सहायक होता है। हाँ, सत्यासत्य का निर्णय तर्क पर अवश्य आधारित है किन्तु उस तर्क को भी प्रयोग की कसौटी पर बार-बार कसना पड़ता है। योग तर्क नहीं है, श्रद्धा भी नहीं है, योग है उन दोनों की कसौटी का नाम।

६. समाधि

आरम्भ में अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है, मध्य में वह ऊर्ध्वमुखी होती है और अन्त में सहस्रार चक्र में पहुँचकर शिव से मिलती है। राजयोग, उन्मनी, मनोन्मनी, अमनत्व, लय, तत्त्व शून्याशून्य, परंपद, अद्वैत, अमनस्क, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजावस्था, तुर्यावस्था इत्यादि नाम समाधि के हैं।^{२६}

समाधि में प्राण क्षीण हो जाने से मन का लय होता है यानी चित्तवृत्तियों का निरोध होने से जीव अपने स्व-स्वरूप में तद्रूप हो जाता है।^{२७} योग का अंतिम अंग है समाधि। महर्षि घेरण्ड ने कहा है—“समाधि से भिन्न कोई योग नहीं है। जो योगी समाधि सिद्ध करता है उसके समान कोई भाग्यशाली नहीं है। यह समाधि सद्गुरु की भक्ति और उनके अनुग्रह द्वारा सिद्ध होती है।”^{२८} योगीश्वर याज्ञवल्क्यजी ने कहा है—“जीवात्मा और परमात्मा की समता का नाम समाधि है।”^{२९} समाधि तो एक ही है किन्तु उसकी अवस्थाएँ दो हैं। पहली अवस्था को सबीज, संप्रज्ञात, सविकल्प, क्रियायोग अथवा चेतन समाधि कहा जाता है। वह समाधि का पूर्वांग है। योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के एकत्ररूप को ‘संयम’ की संज्ञा दी है।^{३०}

वासना का बीज है मन। इस समाधि में उसका अस्तित्व रहता है, अतः उसको सबीज समाधि कहते हैं।

इस समाधि द्वारा ध्येय स्वरूप का संशय तथा विपर्ययरहित यथार्थबोध होने के कारण उसको सम्प्रज्ञात समाधि व चेतन समाधि कहते हैं।

संप्रज्ञात समाधि की चार भूमिकाएँ हैं—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता।

प्राणोत्थान के पश्चात् कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और उसके जाग्रत होने पर सवितर्क समाधि का आरम्भ होता है। उस अवस्था में साधक का मन 'क्षिप्त' हो जाता है, क्योंकि वह जब-जब साधन के लिए बैठता है तब-तब उस पर कामवासना आरूढ़ हो जाती है। उस भूमिका में यदि साधक को अनुभवी योगी गुरु का समुचित मार्गदर्शन मिलता है तो उसकी साधना अक्षुण्ण रह पाती है, वरन् उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है या वह अन्य मार्ग का अवलम्बन ले लेता है। इसी भूमिका में गुरुहीन भावुक साधक योगभ्रष्ट होकर उन्मत्त हो जाते हैं।

सविचार समाधि दूसरा सोपान है। उसमें प्रथम सोपान की क्षिप्तता कुछ अंशों में न्यून हो जाती है किन्तु इसके स्थान पर 'मूढ़ता' का आक्रमण होता है। इस भूमिका में साधक का अधिक समय योगनिद्रा में व्यतीत होता है।

सानन्द समाधि तीसरा सोपान है। उसमें रजोगुण और तमोगुण क्षीण होते हैं और सत्त्वगुण समृद्ध होता है, फलतः शरीर में स्फूर्ति और मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

सास्मिता समाधि चौथा सोपान है। यह सबीज समाधि की अन्तिम भूमिका है। इसमें केवल 'एकाग्रता' ही होती है। ऋतंभरा प्रज्ञा, अपरवैराग्य, योगाग्निमय दिव्यदेह की प्राप्ति और निर्बीज समाधि करने की योग्यता—ये इसकी सिद्धियाँ हैं। शरीर पंचमहाभूतों से निर्मित हुआ है। योगी योग-साधना द्वारा उन पंचमहाभूतों को शुद्ध करता है, उन पर विजय पाता है। तदनंतर उसको अष्ट सिद्धियाँ—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और यत्र-कामावसायिता प्राप्त होती हैं।

सबीज समाधि में चित्त क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त और एकाग्र—इन चार अवस्थाओं की यात्रा करता है। निर्बीज समाधि में चित्त पाँचवीं निरुद्ध अवस्था में प्रवेश करता है। यह उसकी अंतिम अवस्था है।

सबीज समाधि में मन को शरीर से पृथक् किया जाता है। इसमें स्वतंत्र प्राण बहिरिन्द्रियों को अंतर्मुख बनाने की सतत प्रवृत्ति करता रहता है। इस प्रकार कई वर्षों की साधना के पश्चात् इन्द्रियनिग्रह सिद्ध होता है।³³ निर्बीज समाधि में मन को आत्मा से पृथक् किया जाता है। हठयोग की सीमा का विस्तार मूलाधारचक्र से लेकर विशुद्धचक्र पर्यन्त है। राजयोग की सीमा का विस्तार आज्ञाचक्र से लेकर सहस्रार पर्यन्त है। यहाँ से मनोनिग्रह का आरम्भ होता है। जो साधक निष्काम कर्मयोग द्वारा सुषुम्णा नाड़ी का मार्ग शुद्ध किये बिना ही ध्यान करता है उसको समाधि की प्राप्ति नहीं होती, वह मूर्च्छित हो जाता है।

सबीज समाधि की अपार महत्ता होने पर भी वह निर्बीज समाधि की अपेक्षा सामान्य है। प्राणोत्थान वाले साधक वर्षों पर्यन्त चेतन समाधि का अभ्यास करते रहते हैं। अन्त में वे मान लेते हैं कि यह चेतन समाधि ही अंतिम समाधि है, परन्तु यह उनका भ्रम है। जब प्राण और बिन्दु सुस्थिर हो जाते हैं तब योगी को निर्बीज समाधि प्राप्त होती है। उस अवस्था में योगी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को तथा स्वदेह अथवा परदेह को नहीं जानता है।³⁴

योग का अंतिम परिणाम है कैवल्य। उसमें जीवात्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित होता है। उस गुणातीत जीवात्मा को प्रवृत्ति का कोई बन्धन नहीं रहता। कई कर्मयोगी समाधिक्रम को चार अवस्थाओं में विभक्त कर देते हैं—नादयोग, रसानन्दयोग, लययोग और भक्तियोग। कई कर्मयोगी समाधिक्रम को नाद की चार अवस्थाओं में विभक्त कर देते हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्यावस्था।

ज्ञानयोग के अनुष्ठान द्वारा जीवात्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित होता है। उस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं। योग की असंप्रज्ञात समाधि ही ज्ञान की अपरोक्षानुभूति है।

भक्ति का अंतिम परिणाम प्रभुप्राप्ति है। यही मुक्ति है। इस मुक्ति की पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं—सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य और साष्ट्य। सालोक्यमुक्ति में भक्त सत्संग, कथाश्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि करता है। सामीप्यमुक्ति में उसको भगवान् के विविध अवतारों की दिव्य लीलाओं के दर्शन होते हैं। सायुज्यमुक्ति में वह भगवान् का अनन्य भक्त बनता है। इस भूमिका को योगमार्गी कुण्डलिनी की जागृति कहते हैं। सारूप्यमुक्ति में भक्त भगवान् के सदृश रूप प्राप्त करता है। इस भूमिका को योगमार्गी संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। उसमें भक्त को योगाग्निमय विशुद्ध शरीर, ऋतंभरा प्रज्ञा और अपरवैराग्य की उपलब्धि होती है। साष्ट्यमुक्ति में वह भगवान् के





समस्त अधिकार प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह परमात्मरूप हो जाता है। इस भूमिका को योगमार्गी असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

उपर्युक्त समस्त योगियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा, दिव्यदेह और अपरवैराग्य की प्राप्ति होती है। हाँ, उन सब की अभिव्यक्तियों में अन्तर प्रतीत होता है किन्तु योग प्रक्रिया तो समान ही होती है।

योग की इन सभी क्रियाओं अर्थात् प्रारम्भिक साधना से लेकर कुण्डलिनी जागरण और सबीज-निर्बीज समाधि तथा कैवल्य प्राप्ति की संप्राप्ति तक साधारण साधक को अनेक वर्ष लग जाते हैं, किसी-किसी को तो अनेक जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। जैनदर्शन की दृष्टि से मोक्ष की साधना महायात्रा कही जाती है, किन्तु कुछ ऐसे साधक भी होते हैं, जो इस महायात्रा को अल्पकाल अर्थात् कुछ ही वर्षों में पूर्ण कर लेते हैं। यह उनके विशिष्ट वीर्य और तन्मयता का परिणाम होता है। कोई-कोई साधक योग्य गुरु की संप्राप्ति के कारण द्रुतगति से इन सब स्थितियों और सोपानों को पार कर जाते हैं और कोई-कोई साधक तो ऐसे विशिष्ट कोटि के होते हैं जो स्वयंबुद्ध होकर स्वयं ही अपना मार्ग तय कर लेते हैं।

सत्य तथ्य यह है कि साधना साधक की अपनी निजी लगन, सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और इस ज्ञान द्वारा जाने गये मार्ग पर सम्यक् प्रकार से आचरण पर निर्भर करती है। यदि साधक की श्रद्धा सम्यक् और प्रगाढ़ है, उसका ज्ञान निर्मल और यथार्थग्राही है तो उसका आचरण भी दृढ़तापूर्ण और द्रुतगामी होगा।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि कुण्डलिनी जागरण भक्तियोग द्वारा भी हो सकता है, ज्ञानयोग द्वारा भी हो सकता है और निष्काम तथा सकाम योग द्वारा भी हो सकता है और यदि समन्वित रूप से कहा जाय तो इन तीनों ही द्वारा हो सकता है। जब ये तीनों योगमार्ग सम्यक्श्रद्धा (भक्ति एवं विश्वास) सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य के रूप में समन्वित एवं एकाकार हो जाते हैं तो साधक द्रुतगति से अपने इष्ट अर्थात् कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

असतो मा सद्गमय ।

तमसो मा ज्यातिर्गमय ।

मृत्यो मा अमृतंगमय ।

सन्दर्भ तथा सन्दर्भ स्थल

- १ समत्वं योग उच्यते । —गीता २/४७ ।
- २ योगः कर्मसु कौशलम् । —गीता २/५० ।
- ३ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । —योगसूत्र, समाधिपाद, सूत्र २ ।
- ४ हेतु द्वयं चित्तस्थ वासना च समीरणः ।
तयो विनष्टे एकस्मिस्तद् द्वावपि विनश्यतः ॥१॥ —योगकुण्डल्युपनिषद्, प्रथम अध्याय ।
- ५ लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघः !
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥ —गीता अ. ३ ।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥ —गीता अ. ६ ।
- ६ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचरः ॥६॥ —गीता अ. ३ ।
- ७ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥ —गीता अ. ३ ।
- ८ (क) नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥८॥ —गीता अ. ५ ।
(ख) इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥६॥ —गीता अ. ५ ।
- ९ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६॥ —गीता अ. १८ ।
- १० तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ॥२॥ —योगकुण्डल्युपनिषद्, प्रथम अध्याय ।
- ११ योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥६॥ —श्रीमद्भागवत् स्कन्ध. ११, अ. २० ।

- १२ आरुहक्षीर्मुनियोगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥ —गीता अ. ३ ।
- १३ स शैलवनध्यात्रीणां यथाधारोऽहि नायकः ।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥१॥ —हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः ।
- १४ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥ —हठयोगप्रदीपिका, द्वितीयोपदेशः ।
- १५ कंदोर्ध्वं कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥ —हठयोगप्रदीपिका, द्वितीयोपदेशः ।
- १६ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३६॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥ —गीता अ. ३ ।
- १७ यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥ —हठयोगप्रदीपिका द्वितीयोपदेश ।
- १८ शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ॥ —सिद्धसिद्धांत संग्रह ।
- १९ सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥ —हठयोगप्रदीपिका तृतीयोपदेशः ।
- २० भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम् ॥ —रुद्रयामलतंत्र ।
- २१ बहु जपात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।
- २२ ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः । —तन्त्र ।
- २३ नानाविधैर्विचारस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात् तस्य जयः प्रायः प्राणस्त्र जय एव हिः ॥ —योगबीज ।
- २४ प्राणायामक्षपितमनो मलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवति । प्रथम नाडीशोधनं कर्तव्यम् । ततः प्राणायामे अधिकारः ।
प्राणायामं ततः कुर्याद् रेचक पूरक कुम्भकैः ।
प्राणायाम समायोगः प्राणायामः प्रकीर्तितः ॥
प्रणव त्रयात्मकं रेचक पूरक कुम्भकम् ॥ —श्वेताश्वतरोपनिषद् शांकरभाष्य अ. २ ।
- २५ यत् किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१०२॥ —हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थोपदेशः ।
- २६ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुक्तमर्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥ —गीता अ. १० ।
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन ।
यमवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्मैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ॥ —कठोपनिषद् ।
- २७ कथं विना रोम हर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुष्येद् अकत्या विनाऽऽशः ॥२३॥ —श्रीमद्भागवत ११ स्कं, १४ अ. ।
- २८ वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्षणं हसति कवचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥ —श्रीमद्भागवत ११ स्कं, १४ अ. ।
- २९ राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमनत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥३॥
अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरंजनम् ।
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥४॥ —हठयोगप्रदीपिका चतुर्थोपदेशः ।





- ३० तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥ —पातंजल योगसूत्र, समाधिपाद ।
 ३१ समाधिश्च परं योगं बहु भाग्येन लभ्यते ।
 गुरो कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः ॥ —घेरण्डसंहिता ।
 ३२ समाधि समनावस्था जीवात्मापरमात्मनोः । —योगियाज्ञवल्क्य ।
 ३३ त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥ —योगदर्शन, विभूतिपाद ।
 ३४ भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
 ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥४८॥ —हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थोपदेशः ।
 ३५ न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
 नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०९॥ —हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थोपदेश ।

★★★

सुबोधं बालजीवानां, यद्विबिधेः कथानकैः ।
 माहात्म्यं साम्यतत्त्वस्य, तज्ज्ञेयं पण्डितैरपि ॥

आदिमतीर्थकृन्मातुर्भरतचक्रिणस्तथा ।
 प्रसन्नचन्द्रराजर्षे शिचलातिपुत्रयोगिनः ॥

—गि. प. शाह 'कल्पेश'